हमारी स्वतंत्रता कैसी हो !

लेखक
श्रीअरविन्द घोष

अनुवादक
देवनारायण द्विवेदी

प्रकाशक
एस० बी० सिंह ऐण्ड को०
काशी-पुस्तक-भंडार
बनारस सिटी।

प्रथम संस्करण] १९३४ [मूल्य १)
[सजिल्द १।)

प्रकाशक
एस० बी० सिंह ऐण्ड को०
काशी-पुस्तक-भंडार
बनारस सिटी।

योगिराज श्रीअरविन्द घोष लिखित
अन्य पुस्तकें:—

क्या भारत सभ्य है	मू० ।।)
अरविन्द मन्दिरमें	।।।)
धर्म और जातीयता	१)
भगवानकी लीला	।।।)
गीताकी भूमिका	१)

पता—एस० बी० सिंह ऐण्ड को०
बनारस सिटी

मुद्रक
बजरंगबली 'विशारद'
श्रीसीताराम प्रेस, जालिपादेवी, काशी।

भूमिका
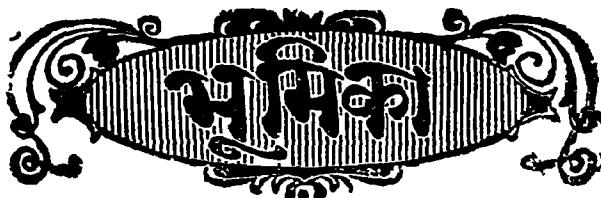
अधिकांश पाश्चात्य राजनीति-विशारदों एवं इतिहासज्ञोंका कथन है कि भारत कभी भी राष्ट्रगठन नहीं कर सका था और न भारतीयोंमें कभी इसकी पूर्ण योग्यता ही थी ! इसी बातको लेकर योगिराज श्रीअरविन्दने प्रस्तुत पुस्तक (A Defence of Indian Culture) में प्राचीन अकाट्य प्रमाणोंद्वारा यह सिद्ध किया है कि जिन लोगोंका उक्त कथन है, वे भारतकेअसली राष्ट्रनीतिक इतिहाससे बिलकुल अनभिज्ञ हैं। यथार्थतः देखा जाय तो पूर्वकालमें भारतमें जो राजतंत्र प्रचलित था, वह वास्तवमें एक प्रकारसे प्रजातंत्र ही था। यहाँ राजाओंमें जो वंशानुक्रमिक नीति प्रचलित थी और जिसकी आधुनिक विद्वान निन्दा किया करते हैं, वह वस्तुतः निन्द्य नहीं थी। यहाँ जैसा राजतंत्र था, वैसा न तो विलायतका पार्लमेंटरी शासन है, न रूसका कम्यूनिज्म है, और न अमेरिकाका फेडरेशन ही है। आज जो

भारतीय राजनीतिज्ञ पाश्चात्य देशोंकी शासन-प्रणालीकी नकल करना चाह रहे हैं, वे भूलकर रहे हैं। कारण यह कि भारत आस्ट्रेलिया या कनाडाके समान कोई नया देश नहीं है कि उसकी निजी प्रतिभा कुछ न हो और वह इस विषयमें परमुखापेक्षी हो। स्वाधीन भारतमें स्वराजका जो रूप होगा, वह आधुनिक दृष्टिसे एक विचित्र ही प्रकारका होगा। भारतकी प्राचीन जातीय धारा-का विकाश करके ही वर्त्तमान कालोपयोगी राष्ट्रका सृजन करना होगा; केवल इसी भावसे भारतकी अत्यन्त जटिल राष्ट्र-नीतिक समस्याओंका सन्तोष-जनक समाधान हो सकेगा। प्राचीन भारतमें राष्ट्र-नीति किस प्रकारकी थी, उसीका संक्षिप्त परिचय देना इस ग्रंथका उद्देश्य है। इतनेहीसे पाठकगण समझ सकते हैं कि वर्त्तमान समयके लिए यह पुस्तक कितनी उपयोगी है। यही कारण है कि मूल पुस्तकके नामका अविकल अनुवाद न करके इस पुस्तकका 'हमारी स्वतंत्रता कैसी हो' नाम रखना ही अधिक उत्तम समझा गया है।

साहित्याश्रम
पो० कछवा (मिर्जापुर) } —देवनारायण द्विवेदी

ॐ

हमारी स्वतंत्रता कैसी हो ?

प्राचीन भारतमें समाज और राष्ट्र

मनुष्यत्वके ऊँचेसे ऊँचे विकाशके लिए जिन वस्तुओंकी आवश्यकता हुआ करती है, जैसे आध्यात्मिकता, धर्म, चिन्ता-शीलता, नैतिकता, कला-विद्या, आदि—इन सब विषयोंमें प्राचीन भारत सभ्यताके ऊँचे शिखरपर था, इस सम्बन्धमें किसी भी प्रकारके तर्ककी गुंजायश नहीं है, भारतके विरुद्ध समालोचकगण भी इसे स्वीकार करनेके लिए वाध्य हुए हैं। उस गौरवान्वित भारतीय जीवनके जो प्रमाण और चिह्न आज वर्त्तमान या उपस्थित हैं, उनसे निःसन्देह यह ज्ञात होता है कि, भारतकी सभ्यता केवल उच्च ही नहीं थी बल्कि संसारमें आज जो पाँच छः सभ्यताके इतिहास पाये जाते है, भारतीय सभ्यता उन्हीमें एक है। किन्तु ऐसे बहुतसे लोग हैं, जो आध्यात्मिक और मानसिक विषयोंमें भारतकी उच्चता स्वीकार करते हैं फिर भी वे अपनी यह राय प्रकट करना चाहते

हैं कि पार्थिव जीवनको यूरोप जितनी दृढ़ता, समर्थता और उन्नतिशील भावसे संघबद्ध और सुगठित कर सका है, भारत वैसा करनेमें समर्थ नहीं हुआ एवं अन्ततक भारतके विद्वान-लोग संसारत्याग, कर्मत्याग और व्यक्तिगत मुक्तिकी साधनाकी ओर झुके रहे। फल-स्वरूप भारतकी सभ्यता बहुत अंशोंमें विकशित होकर रुक गयी है और अब वह आगे नहीं बढ़ सकती, उसमें अनेक त्रुटियों और ग्लानियोंका प्रवेश हो गया है।

आज भारतके विरुद्ध यह अभियोग हर जगह सुनायी पड़ता है। कारण यह कि, वर्त्तमान युगके मनुष्य, यहाँतक कि वर्त्तमान युगके शिक्षित मनुष्य भी राष्ट्रनीति, समाजनीति, अर्थनीतिको ही मानव-जीवनमें प्रधानता दे रहे हैं। आध्यात्मिक और मानसिक उत्कर्षताका (अतिशयताका) केवल उतने ही अंशोंमें आदर है जितनेसे उसके राष्ट्रनीतिक और अर्थ-नीतिक जीवनकी सफलतामें सहायता मिल सकती है। प्राचीन युगके लोग आध्यात्मिकता, धर्म, साहित्य और शिल्पको बहुत मूल्यवान और आवश्यक समझते एवं उसकी मानव-जीवनकी श्रेष्ठ वस्तुओंमे गणना करते थे, वर्त्तमान समयके लोग उससे बिलकुल सहमत नहीं। यद्यपि यह वर्त्तमान वैषयिक मनोभाव मनुष्यको अनेक विषयोंमें नीच भोग-परायण, स्वार्थी, द्वन्द्व-प्रवण बनाकर संसारमें बहुतसे दुःखों और अनर्थोंकी सृष्टि कर रहा है और मनुष्यके आध्यात्मिक विकाशका शत्रु हो रहा है, तथापि इसमें यह सत्य मौजूद है कि, यद्यपि किसी सभ्यताके गुणोंका विचार करनेके लिए पहले ही यह देखना पड़ता है कि मनुष्यके अन्तःकरणको उन्नत करने, उसके मन

और आत्माको उन्नत करनेमें उसकी क्षमता कहांतक है, तथापि वह सभ्यता पूर्ण नहीं कही जा सकती, यदि वह बाह्य जीवन को भी सुष्ठ भावसे गठित करके भीतरी और बाहरी सामंजस्यको न रख सके। उन्नति कहनेसे यही समझा जाता है कि केवल ऊपरी वस्तुओंके उच्च साधन करनेसे ही काम नहीं चल सकता, जबतक कि राष्ट्र, अर्थनीति और समाजनीतिको भी इस प्रकार समर्थ न बना लिया जाय, जिससे कि जाति जीवन-संग्राम में टिक सके, केवल व्यक्तिगत भावसे ही नहीं, किन्तु जातिगत भावसे पूर्णताकी ओर निश्चित रूपसे अग्रसर हो सके और बाहरी जीवनमें ऐसी सजीवता और सबलता रहे, जिसमें उसके भीतर आत्मा और मनकी क्रिया क्रमशः उन्नत भावसे प्रकाशित हो सके। जो सभ्यता इन सब उद्देश्योंको सिद्ध नहीं कर सकती, उसके आदर्श अथवा कार्य-कारितामें दोष और त्रुटि है; उस सभ्यताको पूर्णांग नहीं कहा जा सकता।

भारतीय समाजका भीतर और बाहर जिस आदर्शके द्वारा नियंत्रित होता था, वह आदर्श बहुत ऊँचा था; समाज-शृंखलाकी दीवार बहुत सुदृढ़ थी, इसमें जो तेजो-युक्त प्रज्ञा-शक्ति क्रिया करती थी उसमें थी असाधारण सृष्टि-शक्ति और ऐश्वर्य; भारतने बाहरके जीवनको जिस तरह गठित किया था, उससे प्रचुरता, वैषम्यमें एकता, सुन्दरता, उत्पादन-शीलता गति हुई थी। भारतके इतिहास, शिल्प और साहित्यका जो उदाहरण वर्त्तमान है, उससे जाना जाता है कि यही भारतीय सभ्यताका असली स्वरूप है और इसके अवनतिके युगमें भी पूर्व महत्त्वके वे चिह्न एकबारगी लोप नहीं हो गये हैं। इससे

भारतीय सभ्यताके विरुद्ध जो अभियोग लगाया जाता है, उसने बाहरके जीवनको खर्च कर दिया है, इसका कारण क्या है? इस अभियोगको जो लोग बढ़ाकर दिखलाते हैं, वे भारतीय सभ्यताकी अवनति और ध्वंसको देखकर ही विचार करते हैं और अवनतिके युगके लक्षणोंको ही भारतीय सभ्यताका असली स्वरूप कहकर शोर मचाते हैं। उनके अभियोगकी प्रधान बात यही है कि भारत कभी भी स्वाधीन समर्थ राष्ट्र गठन नहीं कर सकता, चिरकालसे भारत सैकड़ों भागोंमें बँटा हुआ है और अपने सुदीर्घ इतिहासमें बहुत दिनोंसे भारत पराधीन है। प्राचीन समयमें उनकी अर्थनीतिक व्यवस्थामें जो भी गुण रहे हों, समयकी आवश्यकताके साथ वह परिवर्त्तित और विकशित नहीं हो सकता। फलतः वर्त्तमान युगमें दरिद्रता और निष्फलता ही दिखलायी पड़ रही है। वंश-मर्यादाके अनुयायी श्रेणीबद्ध भारतीय समाजकी उन्नतिके मार्गमें आगे नहीं बढ़ सकते; क्योंकि वे जाति-भेदसे जर्जरित हैं, उनमें निष्ठुर अमानुषिक प्रथाओंकी भरमार है, भूतकालके ध्वंसस्तूपमें इन सबोंको फेंक देनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, उसकी जगह यूरोपीय समाज-व्यवस्थापन स्वाधीनता, दक्षता और पूर्णता ला घुसेड़नी होगी। इन सब व्यापारोंका असली सत्य क्या है, यह पहले जानना आवश्यक है! उसके बाद भारतीय सभ्यताकी राष्ट्रनीतिक, अर्थनीतिक और सामाजिक बातोंके गुण-दोषोंपर विचार करना होगा।

भारतके ऐतिहासिक विकाशके सम्बन्धमें भ्रान्त धारणा होने एवं उसके भूतकालके सम्बन्धमें अल्प-ज्ञान होनेसे ही

इस प्रवादकी उत्पत्ति हुई है कि भारतने राष्ट्रनीतिक व्यापार-अक्षमता दिखलायी है। यह धारणा बहुत दिनोंतक प्रचलित थी कि भारत आदिम आर्य, वैदिक समाज और राष्ट्रकी स्वाधीन व्यवस्थासे एकदम ब्राह्मणोंके प्रभुत्व और अत्याचार-पीड़ित समाजकी व्यवस्था तथा स्वेच्छाचारी राजतंत्रके अधीन राष्ट्रकी व्यवस्थामें पहुँच गया था एवं उसके बादसे भारतमें ये दो व्यवस्थाएँ कायम हैं। भारतके इतिहासके सम्बन्धमें यह धारणा वर्त्तमान ऐतिहासिक गवेषणाके द्वारा पूर्ण रीतिसे मिथ्या प्रमाणित हो चुकी है। यूरोपीय सभ्यताके इतिहासमें जिसे वैश्य-युग कहा गया है, उसमें कल-कारखानोंके विस्तार-से धनके लिए चखाचखी तथा श्रमजीवियोंका रक्त-शोषण चला है एवं साधारणतंत्रके नामपर पार्लमेंटरी गवर्नमेंट चालू हुई है; भारतके इतिहासमें इस Industrialism और Parliamentarism का आविर्भाव कभी नहीं हुआ—यह बात सच है। किन्तु जिन दिनों लोग बिना कुछ सोचे-समझे ही यूरोपके इन दोनों आदर्शोंकी प्रशंसा करते थे, वे दिन अब नहीं हैं। अब इनकी त्रुटियाँ लोगोंको आँखोंसे दिखलायी पड़ रही हैं एवं इनके नापनेकी लकड़ीद्वारा किसी पूर्वी सभ्यता-को नापनेकी कोई आवश्यकता नहीं। यूरोपमें प्रचलित साधा-रणतंत्र और पार्लमेंटरी गवर्नमेंटके अनुरूप शासनतंत्र प्राचीन भारतमें भी था, यह प्रमाणित करनेकी चेष्टा हमारे देशके किसी-किसी विद्वानने की है; किन्तु इस प्रकारकी चेष्टा करना भ्रान्तिका फल है। प्राचीन भारतमें साधारणतंत्रका एक भाव बहुत ही प्रबल था; वह बहुत अंशोंमें पार्लमेंटरी अनुष्ठानके

समान ही प्रतीत होता है; किन्तु वस्तुतः वह भारतका अपनापन है एवं वह शुरूसे ही वर्त्तमान पार्लमेंटरिज्म अथवा साधारण-तंत्रके समान नहीं है। और इस प्रकार यदि हम देखते हैं तो प्राचीन भारतवासियोंने समाजकी मानसिक और दैहिक अवस्थाके साथ मिलाकर जिस राष्ट्र-व्यवस्थाका गठन किया था, उससे उनकी राष्ट्रनीतिक प्रतिभाका परिचय पाकर आश्चर्य-में पड़ जाना पड़ता है, किन्तु शिक्षा-दीक्षामें बिलकुल विभिन्न यूरोपके साथ तुलना करके उस व्यवस्थाकी वास्तविक मर्यादा नहीं समझी जा सकती।

प्राचीन आर्य-जातिमें जो राष्ट्र-तंत्र प्रचलित था, एवं जो मानव-समाजके विकाशकी एक अवस्थामें सब देशोंके मनुष्यों-में ही साधारण रीतिसे प्रचलित था—ऐसा प्रतीत होता है, उसी राष्ट्र-तंत्रके एक विशेष रूपको लेकर ही भारतका राष्ट्र-नीतिक इतिहास आरम्भ होता है। कुल अथवा गोष्ठीको लेकर ही यह तंत्र गठित था और इसका मूल था कुल अथवा गोष्ठी-के अन्तर्गत सब मनुष्योंमें साम्य। प्रथमावस्थामें किसी विशेष स्थानपर यह कुल आबद्ध नहीं रहता था, उस समय भी स्थान-से स्थानान्तरमें खिसक जानेका प्रबल आग्रह था, और किसी स्थानपर जो कुल निवास करता था, उस कुलके नामके अनु-सार ही उस स्थानका नाम होता था, जैसे 'कुरु देश' या केवल 'कुरु', मालव देश या केवल मालव। जिस समय आर्यों की बारम्बार गमन-शीलता-(यायावर) की प्रवृत्ति लोप हुई और वे निर्दिष्ट स्थानपर स्थायी भावसे निवास करने लगे, उस समय भी कुल अथवा गोष्ठी प्रथा अक्षुण्ण थी; किन्तु उस

समय ग्रामीण-समाज ही उस राष्ट्र-तंत्रका मूल आकार अथवा केन्द्र था। साम्प्रदायिक विषयोंकी आलोचना करनेके निमित्त अथवा यज्ञ और धर्मानुष्ठानके निमित्त या युद्धके आयोजनके निमित्त सर्व साधारणकी सभा एकत्र होती थी और उस सभाका नाम था "विशा।" यही सभा जन-साधारणके एकत्रित शक्तिकी प्रतीक थी और बहुत दिनोंतक इसी सभाद्वारा सम्प्रदायका साधारण जीवन परिचालित होता रहा। इस सभाका सभापति जन-साधारणके प्रतिनिधि रूपमें राजा रहा करता था। जब इस राजाका पद उसके वंशजको मिलने लगा, तब भी बहुत दिनोंतक अभिषेकके अवसरपर सर्वसाधारणद्वारा राजाको अनुमोदित और निर्वाचित होना पड़ता था। यज्ञ रूप धर्मानुष्ठानके विकाशके साथ-साथ पुरोहित-श्रेणीका उद्भव हुआ, वे यज्ञके अनुष्ठानमें अभ्यस्त थे एवं बाह्यानुष्ठानके पीछे गूढ़ आध्यात्मिक तत्व है, इस सम्बन्धमें अभिज्ञ थे, इसी भावसे महान् ब्राह्मणतन्त्रका सूत्र-पात हुआ। पहले-पहल ये पुरोहित पुरुषानुक्रमिक नहीं थे, वे अन्यान्य वृत्तियोंका भी आश्रय लिये रहते थे और वे साधारण जीवनमें सर्वसाधारणके ही अनुसार थे। यही स्वाधीन स्वाभाविक समाज-तंत्र था और जान पड़ता है यही समूचे आर्य्यावर्त्त भारतमे प्रचलित था।

इस अन्तिम समाज-तंत्रका परवर्त्ती विकाश अन्यान्य सम्प्रदायोंके समान ही बहुत दूरतक हुआ था, किन्तु उसके साथ ही यहाँ ऐसी बहुतसी विशिष्टताएँ पैदा हुई, जिनसे भारतीय सभ्यताकी राष्ट्रनीतिक, अर्थनीतिक और सामाजिक धारा अन्यान्य देशोंसे विभिन्न हो गयी है। वंशानुक्रमनीति बहुत

प्राचीन कालमें ही भारतमें स्पष्ट हो चुकी थी ; क्रमशः उसको ऐसी प्रधानता हो गयी कि सब जगह सब संघों और अनुष्ठानोंकी वही नींव बन गयी । वंशानुक्रमिक राज-तंत्रकी स्थापना हुई, एक शक्तिशाली शासक और योद्धा-श्रेणीका आविर्भाव हुआ, समाजके बाकी आदमी व्यवसायी शिल्पी और कृषककी श्रेणीमें विभक्त हो गये तथा एक दास अथवा सेवक-श्रेणीकी सृष्टि हुई । सम्भवतः आर्यलोग जिनलोगोंको युद्धमें पराजित करते थे, वे नौकर और श्रमजीवी हो जाते थे, उन्हींसे इन दासोंकी उत्पत्ति हुई है । भारतवासियोंके मनके ऊपर बहुत प्राचीन कालसे ही धर्म और आध्यात्मिकताका प्राधान्य है यही कारण है कि समाजके उच्च स्थानपर ब्राह्मण-सम्प्रदायका आविर्भाव हुआ । वे ब्राह्मण पुरोहित, पंडित, कानून बनानेवाले, वेदज्ञ नामसे परिचित थे । अवश्य ही अन्यान्य देशोंमें भी इस तरहकी श्रेणियोंका आविर्भाव हुआ है, किन्तु भारतवर्षमें ब्राह्मण-सम्प्रदायने जिस प्रकार स्थायी, सुनिर्दिष्ट और ऊँचा स्थान ग्रहण किया है, वैसा और कहीं भी देखनेमें नहीं आता । भारतवासियोंके समान और सब देशोंके लोगोंका मानसिक भाव जटिल नानामुखी नहीं है और किसी देशमें यदि इस प्रकार सम्प्रदाय बना होता तो वे ही समाजके सर्वेसर्वा हो जाते । किन्तु यद्यपि ब्राह्मणोंका प्रभाव क्रमशः बढ़ता ही जा रहा था और अन्ततक उन्हींकी प्रधानता भी थी, तथापि भारतमें ब्राह्मणोंने कभी भी राजशक्तिपर अधिकार नहीं किया अथवा नहीं कर सके । राजाके और जन-साधारणके पुरोहित, गुरु, ब्राह्मण आश्चर्यजनक क्षमता दिखलाते थे अवश्य, किन्तु असली राष्ट्र शासन-

का भार कार्यतः राजा, क्षत्रिय-सम्प्रदाय एवं जन-साधारणके ही हाथमें न्यस्त या स्थापित था।

कुछ दिनोंतक एक विशेष स्थानपर अधिकार किया था, ऋषियोंने। उच्च अध्यात्म-प्राप्ति और ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति ही ऋषि थे। चाहे वे किसी भी श्रेणीके लोग हों, किन्तु ऋषि हो जानेपर वे अपने आध्यात्मिक चरित्रके गुणसे सबके ऊपर आधिपत्य रखते थे, राजालोग उनका सम्मान करते थे, उनकी राय ग्रहण करते एवं समाजकी उस अगठित अवस्थामें वे अकेले ही समाजकी नवीन विधि-व्यवस्थाका परिवर्त्तन और विकाश करनेमें समर्थ होते थे। भारतीय मनोवृत्तिका यह एक विशिष्ट लक्षण है कि सब कामोंमें, यहाँतक कि वाह्यतम सामाजिक और राष्ट्रनीतिक व्यापारोंमें भी भारतवासियोंने आध्यात्मिक सार्थकताकी ओर, धर्मकी प्रयोजनीयताकी ओर लक्ष्य रक्खा है; प्रत्येक श्रेणी और सम्प्रदायका धर्म क्या है, कर्त्तव्य क्या है, अध्यात्म-जीवनके विकाशकी उपयोगिता क्या है, आदि बातोंको स्पष्ट रीतिसे निर्दिष्ट करनेकी चेष्टा की है। जातिके हृदयके ऊपर यह स्थायी छाप ऋषिगण ही लगा गये थे; भारतीय सभ्यता, भारतवासियोंकी शिक्षा-दीक्षा, धर्म और आध्यात्मिकताके ऊपर ही जीवनका प्रवाह, एवं जीवनका सब कार्य, सारी चेष्टाओंके भीतरसे दिव्य अध्यात्म-जीवनका विकाश करनेमें ही भारतीय जीवनकी मूल विशिष्टताका होना, इन सब बातोंके मूल वे ऋषिलोग ही हैं। परवर्त्ती काल में हम देखते हैं कि स्मार्त्त ब्राह्मणोंने समाजमें उस समयकी प्रचलित रीति-नीतिका संग्रह करके उन्हें उन प्राचीन ऋषियोंके

नामसे प्रचलित कर दिया है और इस प्रकार मनुसंहिता, पराशरसंहिता आदि ग्रन्थोंकी उत्पत्ति हुई है। किन्तु भारतके समाजमें और राष्ट्रमें बादमें चाहे जो परिवर्त्तन हुआ हो, इस मूल विशिष्ट धर्म और आध्यात्मिकताने बहुत दिनोंतक भारतवासियोंके जीवनपर इसका प्रभाव डाला है और अन्तमें उसके प्राणहीन विधि-निषेध तथा आचार-व्यवहारमें परिणत हो जानेपर उस असली आध्यात्मिकताने सदा ही प्राण रूपमें परिस्फुट होनेकी चेष्टा की है।

राष्ट्रनीतिकी ओरसे उस आदिम व्यवस्थाका विकाश भारतके भिन्न-भिन्न भागोंमें भिन्न-भिन्न तरहसे हुआ है। अन्यान्य देशोंकी भाँति इस विकाशकी साधारण गति है, राजतंत्रकी ओर, राष्ट्रका शासन और परिचालन कार्य क्रमशः जटिल हो गया है एवं केन्द्र रूपमें राजा ही इस शासनतंत्रके अधिपति हुए हैं; राष्ट्रका यही राजतंत्र रूप समयकी गतिके अनुसार प्रचलित और सर्वत्र प्रवर्त्तित यानी उत्पन्न हुआ। किन्तु एक विपरीत चेष्टाने इस राजतंत्रके विस्तारको बहुत दिनोंतक बाधा देकर रोक रक्खा था और उस चेष्टाके फलसे बहुतसे स्थानोंमें नागरिक या प्रादेशिक प्रजातंत्रका (Republics) आविर्भाव हुआ था। इन स्थानोंमें राजा वंशानुक्रमिक अथवा निर्वाचित सभापतिके रूपमें परिणत होते थे; कहीं-कहीं तो राजाका अस्तित्व ही एकदम उठा दिया जाता था। सर्वसाधारणकी सभाके स्वाभाविक क्रम-विकाशके फलसे ही कहीं-कहीं इन सब राजतंत्रोंका आविर्भाव हुआ था; और कहीं-कहींकी प्रजाने राजाके विरुद्ध विद्रोह करके प्रजातंत्रकी स्थापना की

थी ; राजतंत्र और प्रजातंत्रका क्रमागत भाग्य-विपर्यय भी हुआ था। भारतकी किसी-किसी जातिमें प्रजातंत्र ही अन्ततक विजयी रहा और विशेष दक्षताके साथ राष्ट्रका शासन चलाता हुआ सैकड़ों वर्षोंतक अक्षुण्ण बना रहा। वे प्रजातंत्र राज्य कहीं तो लोकतांत्रिक सभाके द्वारा और कहीं मुख्यतांत्रिक परिषद्के द्वारा शासित होते थे। दुःखका विषय है कि इन सब भारतीय प्रजातंत्रोंके संगठनकी प्रणाली हमलोग बहुत ही कम जानते हैं और उसके अन्दरूनी इतिहाससे हम लोग बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। फिर भी उनकी शासन-प्रणालीकी उत्कर्षता तथा उनकी सामरिक व्यवस्थाकी दक्षताकी अत्यधिक ख्याति समूचे भारतमें व्याप्त थी, इस विषयमें अकाट्य प्रमाण पाये जाते हैं। बुद्धकी एक कथा प्रचलित है, उन्होंने कहा था कि जितने दिनोंमें प्रजातंत्र राज्य ठीक तौरसे परिचालित होगा, उतने दिनोंमें एक छोटा राष्ट्र भी मगध-राजवंशकी उद्धत सामरिक शक्तिको रोक सकेगा। इस मतके समर्थनमें और भी वाक्य पाये जाते हैं। भारतके प्राचीन राष्ट्रनीतिक ग्रन्थकारोंकी रचनाओंमें यह उल्लेख है कि—प्रजातंत्र राष्ट्रके साथ मैत्री स्थापित करनेसे राजालोग राजनीतिक और सामरिक मामलोंमें जैसी सहायता पावेंगे, वैसी और कहींसे भी नहीं पावेंगे ; प्रजातंत्रको दमन करनेका उपाय युद्ध नहीं है ; क्योंकि उनके साथ युद्धमें कृतकार्य होनेकी आशा अत्यन्त अल्प है। उनको दमन करनेके लिए कूट राजनीतिका आश्रय लेना पड़ेगा, उनके राष्ट्रतंत्रकी एकता और दक्षताको जड़से नष्ट कर देना होगा—नहीं तो उनको दमन करना आसान काम नहीं होगा।

भारतका यह सब प्रजातंत्र बहुत प्राचीन कालमें स्थापित हुआ था और खीष्टके जन्मके छः सौ वर्ष पहले तेजीके साथ फैल रहा था। इसलिए ग्रीस देशमें जिस समय क्षणिक स्थायी प्रजातंत्रका आविर्भाव हुआ था, उस समय भारतवर्षमें यह सब प्रजातंत्र प्रचलित था और ग्रीसकी प्रजातांत्रिक स्वाधीनता नष्ट हो जानेके बाद बहुत दिनोंतक भारतमें वर्तमान था। भूमध्यसागरके तटवर्त्ती चंचल-मतिकी जातियोंकी अपेक्षा प्राचीन भारतवासी सुदृढ़ और स्थायी राष्ट्र-गठन करनेमें उन्नत थे, इसे तो हर हालतमें स्वीकार करना ही पड़ेगा। भारतका कोई-कोई प्रजातंत्र तो प्राचीन रोमकी अपेक्षा अधिक दिनों-तक तेजीके साथ स्वाधीनताका भोग और रक्षा करनेमें समर्थ हुआ था; कारण यह कि, वे चन्द्रगुप्त और अशोकके अत्यन्त प्रतापी साम्राज्यके विरुद्ध भी अपने अस्तित्वको अक्षुण्ण रख सके थे और वह खीष्टकी मृत्युके बाद कई सौ वर्षतक मौजूद था। किन्तु उनमें किसीने भी प्रजातंत्र रोमकी भाँति दूसरे-पर आक्रमण करके जय पानेकी शक्तिका एवं विस्तृत भावसे संघको सुगठित करनेकी शक्तिका अनुशीलन नहीं किया। वे अपनी स्वाधीनताकी रक्षा करके स्वाधीन भावसे अपने जीवन-का विकाश करके ही सन्तुष्ट थे। अलेकजेंडरके आक्रमणके बाद भारतने संघ-बद्ध होनेकी आवश्यकता समझी और उस समय यह प्रजातंत्र मिलनका शत्रु होकर खड़ा हुआ। आप-लोगोंमें तो वे शक्तिमान थे, किन्तु समूचे भारतको एक करने-के लिए वे कुछ भी नहीं कर सके। छोटे-छोटे राष्ट्रोंको मिलाकर समूचे भारतको संघ-बद्ध करना आसान काम नहीं था,—

वस्तुतः पुराने जमानेमें संसारमें कहीं भी ऐसी चेष्टा सफल नहीं हुई थी, बहुत कुछ आगे बढ़कर इस प्रकारकी संघ-बद्धता हर जगह नष्ट हो गयी है और केन्द्रीभूत गवर्नमेंटके विरुद्ध अन्त-तक नहीं खड़ी हो सकी है। संसारके अन्यान्य स्थानोंकी भाँति भारतवर्षमे भी राजतंत्र ही क्रमशः शक्तिशाली होता गया और अन्तमें और-और तरहके राष्ट्रतंत्रको स्थान-च्युत करके स्वयं स्थापित हो गया। भारतके इतिहाससे प्रजातंत्र लुप्त हो गया; इस समय हम उसका इतिहास जान पाते हैं केवल पुरानी मुद्राओं-के प्रमाणसे, ग्रीस-देशवासी भ्रमण करनेवालोंके वर्णनसे एवं उन समकालीन ग्रन्थकारोंके उल्लेखोंसे, जिन्होंने भारतमें सब जगह राजतंत्र स्थापित करनेमें उसकी सहायता की थी।

यद्यपि भारतमें राजालोग भगवानके प्रतिनिधि तथा धर्मके रक्षक समझे जाते थे, राजाका पद, सम्मान, शक्ति उच्च शिखरपर पहुँची हुई थी, तथापि मुसलमानोंके भारतमें आनेके पहले, भारतमें किसी प्रकारका स्वेच्छाचारी राजतंत्र नहीं था, राजालोग अपनी इच्छाके अनुसार कोई काम नहीं कर सकते थे। प्राचीन पारस्य देशमें, मध्य और पश्चिम एशियामें, अथवा रोम-साम्राज्यमे या परवर्त्ती यूरोपमे जो स्वेच्छाचारी राजतंत्र प्रचलित था, उससे भारतका राजतंत्र बिलकुल भिन्न था। पठान और मुगल बादशाहोंने भारतमें जो राजतंत्र चलाया था, उसका भारतीय राजतंत्रके साथ कुछ भी सादृश्य नहीं था। भारतके राजालोग देशके शासन और विचार-कार्योंमें सबके ऊपर रहते थे, देशकी समूची सामरिक शक्ति उनके हाथमें रहती थी, अपनी मंत्रणा-परिषद्‌की सहयोगितामें वे ही युद्ध

अथवा शान्ति-स्थापनके सर्वेसर्वा थे। वे समाजकी शान्ति-शृंखलाकी रक्षा करते थे और समाजके कल्याणके सम्बन्धमें भी वे साधारणतया देखभाल करते थे। किन्तु व्यक्तिगत भावसे उनकी कोई भी क्षमता नहीं थी। इसके अतिरिक्त इस बातके लिए यथेष्ट प्रबन्ध था, जिसमें राजालोग अपनी क्षमता या सामर्थ्यका किसी तरह अपव्यय न कर सकें, इतना ही नहीं, देशके अन्यान्य साधारण व्यक्ति भी कामोंके आरम्भमें स्वतः राजकार्य चलाते थे, शासनके मामलेमें उनमें बहुत-कुछ सामर्थ्य था, वे एक प्रकारसे राजाको सहयोग देकर राजकार्य, देशके शासन-कार्यको चलाते थे। अंग्रेजीमें जिसे कहते हैं, A limited or constitutional monarch—कानूनके अधीन सीमा-बद्ध राजा, भारतके राजालोग वस्तुतः वही थे। फिर भी जिस ढंगसे भारतमें कानूनसे अनुमोदित शासनतंत्रकी रक्षा की जाती थी तथा राजाके सामर्थ्यको सीमा-बद्ध रक्खा जाता था, वैसा यूरोपके इतिहासमें देखनेमें नहीं आता; इसी प्रकार भारतके राजाओंको राज्य चलानेमें प्रजाकी इच्छा और सम्मतिपर जितना निर्भर रहना पड़ता था, मध्ययुगमें यूरोपके राजाओंको उतना निर्भर नहीं रहना पड़ता था।

राजाके ऊपर भी राजा था धर्म। जो आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, अर्थनीतिक, विचारगत, आचारगत, रीति-नीति आईन-कानून जातीय जीवनको घनिष्टताके साथ चलाता है, उसकी समष्टिको ही भारतमे साधारण रीतिसे धर्म कहा गया है। राजालोग इस धर्मके बिलकुल अधीन थे। धर्मको लोग बहुत ही पवित्र निगाहोंसे देखते थे तथा इसका आधिपत्य नित्य और सनातन

समझा जाता था। मूलतः इस धर्मका कोई भी परिवर्तन नहीं हो सकता था, फिर भी समाजके क्रम-विकाशमें इसके रूप और बाहरी आकारका जो परिवर्तन होता था, वह भी स्वतः ही भीतरसे स्वाभाविक रीतिसे होता था। देश-भेद और कुल-भेदमें जो विभिन्न आचार-व्यवहार था, वह भी इस मूल धर्मके ही अन्तर्गत था। इस धर्मके ऊपर इच्छाके अनुसार हस्तक्षेप करनेका अधिकार किसीको भी नहीं था। ब्राह्मण ही इस धर्मके शिक्षक और प्रचारक थे। धर्मको वे केवल लिखकर रखते थे, पर वे धर्मकी सृष्टि नहीं कर सकते थे। इच्छानुसार धर्ममें परिवर्तन करनेका अधिकार उन्हें भी नहीं था। हाँ, यह बात अवश्य स्वीकार की जायगी कि, जब उन्हे धर्मकी व्याख्या करनेका अधिकार था, तब वे अपनी व्याख्याके द्वारा ही समाजके अनेक नये भावों, नयी चेष्टाओंका समर्थन या विरोध करते थे। उस समय राजा तो धर्मका केवल रक्षक, परिचालक और नौकर था। उसपर यह भार रहा करता था कि जिसमें प्रजा धर्मपर रहे, कोई किसी तरहका अपराध न करे, भयानक उच्छृंखलता अथवा धर्मका नाश न हो। पहले राजाको स्वयं उस धर्मको मानना पड़ता था। राजाको किस प्रकार व्यक्तिगत जीवन बिताना चाहिये तथा राजपद और राजकार्यको किस प्रकार चलाना चाहिये, इस सम्बन्धमें धर्मके आदेशानुसार राजाको बड़ी सतर्कतासे उसका पालन करना पड़ता था।

राजशक्तिके लिए यह जो धर्मकी अधीनता थी, वह केवल वास्तविकतासे रहित काल्पनिक आदर्शमात्र नहीं थी, केवल कथन करनेकी बात नहीं थी। कारण, समूचे समाज-

का जीवन वस्तुतः धर्मके आदेशानुसार ही परिचालित होता था। अतएव वह अटल सत्य था और इसीसे राजनीतिक क्षेत्र-मे भी इसका प्रभाव अधिक था। पहले तो कानून बनानेकी कोई शक्ति राजामें नहीं थी ; देशके शासनके काममें राजा जिस आदेशकी घोषणा करता था, वह सब देशके आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, अर्थनीतिक, रीति-नीतिका ही अनुयायी होता था—यहाँतक कि इन सब आदेशोंकी घोषणा-का काम भी राजा अकेले नहीं करता था। देशमें अन्यान्य ऐसी शक्तियाँ थीं, जो राज्यके शासनके मामलेमें आदेश आदिका प्रचार करनेके सामर्थ्यसे राजाके साथ अंशीदार थीं। इसके सिवा राजा जिस भावसे देशका शासन करता था, वह देशवासियोंकी प्रकाशित या अप्रकाशित इच्छाद्वारा, अनुमोदित है या नहीं, इस ओर हर समय राजाको लक्ष्य रखकर चलना पड़ता था।

आध्यात्मिक साधना पूजा उपासना आदि कामोंमें सर्व-साधारणको स्वाधीनता दी गयी थी ; साधारणतः इन मामलों-में राजा किसी तरहका हस्त-क्षेप नहीं कर सकता था। प्रत्येक धर्म-संघ, प्रत्येक नवीन या प्राचीन धर्म-सम्प्रदाय—अपने जीवन, अपने अनुष्ठानको अपने मतानुसार स्वाधीनता-पूर्वक बना सकता था। सबलोगोंके अपने-अपने गुरु थे, अधिपति थे ; अपने-अपने क्षेत्रमें वे पूर्ण स्वाधीनताके साथ चल सकते थे। राष्ट्रीय धर्म (State religion) के रूपमें कोई विशेष धर्ममत नहीं समझा जाता था। राजा धर्मके मामलोंमें जातिका स्वामी नहीं था। इस विषयमें देखा जाता है कि सम्राट अशोकने

देशके धर्मके ऊपर राजशक्तिका प्रभाव डालनेकी चेष्टा की थी और भी कई शक्तिशाली राजाओंने बीच-बीचमें कुछ-कुछ ऐसी प्रवृत्ति दिखलायी थी; किन्तु, धर्मके सम्बन्धमें सम्राट् अशोकके जो घोषणा-पत्र (edicts) हैं, वे ठीक राजाज्ञा नहीं हैं—वे केवल राजाके मत-प्रकाशमात्र हैं। उनमें ऐसा आदेश नहीं पाया जाता कि, लोगोंको उसे ग्रहण करना ही पड़ेगा। यदि कोई राजा धर्ममतका अथवा धर्मानुष्ठानका परिवर्त्तन करना चाहता था, तो उसे सबसे पहले इस विषयमें प्रधान-प्रधान लोगोंके साथ परामर्श करके उनलोगोंकी राय ग्रहण करनी पड़ती थी, अथवा परामर्शके लिए विचार-सभाका आयोजन करना पड़ता था [बौद्धोंकी प्रसिद्ध विचार-सभाएँ इसके लिए उदाहरण हैं], अथवा भिन्न-भिन्न धर्मोंके व्याख्याताओंमें तर्क और विचार होनेकी व्यवस्था कर देनी पड़ती थी और उन व्याख्याताओंमें जो सिद्धान्त स्थिर होता था, उसीको ग्रहण करना पड़ता था। यदि राजा व्यक्तिगत भावसे किसी विशेष मतवादका पक्षपाती हो जाय तो उस मतवादके प्रचारमे बहुत सुविधा हो सकती है; किन्तु राजा होनेके कारण उसे तमाम प्रचलित धर्म-मतों और धर्म-सम्प्रदायोंका सम्मान और समर्थन करना पड़ता था। उसे इन विषयोंमे सदा निरपेक्ष रहना पड़ता था। इसीसे यह देखनेमें आता है कि बौद्ध और ब्राह्मण सम्राटोंने दो विरोधी धर्म-सम्प्रदायोंका समर्थन किया था। कहीं-कहीं, खासकर दक्षिण-भारतमें, राजाद्वारा धार्मिक मामलोंमें थोड़ा-बहुत अत्याचार भी हुआ है, किन्तु यह अधर्मका लक्षण है, व्यभिचार है, सामयिक तीव्र उत्तेजनाका फल

है, यह कभी भी बहुदूर-व्यापी अथवा बहुकाल-स्थायी नहीं हो सका। साधारणतः भारतकी राष्ट्रीय प्रथामें धर्मके सम्बन्धमें असह्यता या अत्याचारका नाम-निशान नहीं था। किसी भी राजा अथवा राष्ट्रका इसका नीति-स्वरूप अनुसरण करना, कल्पनासे भी परे था।

जिस प्रकार धार्मिक मामलोंमें हस्तक्षेप नहीं किया जाता था, उसी प्रकार सामाजिक मामलोंमे भी प्रजाकी स्वाधीनता-में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। ऐसा दृष्टान्त प्रायः ही देखने-में नहीं आता कि राजाने कानून बनाकर समाजकी विधि-व्यवस्थामें परिवर्त्तन किया हो। यदि कभी ऐसा किया गया है, तो जिनलोगोंके लिए परिवर्तन आवश्यक समझा गया—उनलोगोंसे परामर्श करके, उनलोगोंकी राय लेकर किया गया है। चिरकालके बौद्धोंके प्रभावसे बंगालमें जाति-भेद छिन्न-भिन्न हो जानेके बाद सेन-राजाओंने जब फिरसे जाति-भेदका आरम्भ किया, तब इसी प्रकार लोगोंके साथ परामर्श करके ही किया था। समाजका संस्कार अथवा परिवर्त्तन इच्छानुसार ऊपरसे नहीं किया जाता था बल्कि भीतरसे स्वभावतः परिवर्त्तन और विकाश होता था। कुल अथवा वंश-को या विशेष-विशेष सम्प्रदायको अपने-अपने आचारके परि-वर्त्तन और विकाश करनेके लिए जो स्वाधीनता दी गयी थी, प्रधानतः उसी स्वाधीनताके फलसे भीतरसे स्वाभाविक रीतिसे समाजमें परिवर्त्तन और विकाश होता था।

राज्य-शासनके मामलेमे भी इसी प्रकार राजाकी शक्ति जातिके सनातन आदर्शके द्वारा, धर्मके द्वारा सीमाबद्ध थी।

प्रधान-प्रधान राज-करोंके मामलेमें राजा एक निश्चित अंशसे अधिक कर नहीं ले सकता था ; अन्यान्य मामलोंमें प्रजाके प्रतिनिधिमूलक अनुष्ठानका मत लेकर राजाको कर निर्द्धारित करना पड़ता था एवं हर समयके लिए यह साधारण नीति थी कि राजाको जिस देशपर शासन करनेका अधिकार होता था, उस देशके सर्वसाधारणके सन्तोष और सम्मतिको ही वह शासनाधिकारकी नींव समझता था। हम देख सकते हैं कि इसमें केवल एक सदिच्छा अथवा धर्मवेत्ता ब्राह्मणोंका मत-मात्र नहीं था। राजा स्वयं प्रधान विचार-पति था ; देशके दीवानी और फौजदारी कानूनोंके अनुसार दंड आदि देनेके मामलेमें सबके ऊपर राजाका ही आधिपत्य था। उसके विचारपतिलोग अथवा कानूनके मर्मज्ञ ब्राह्मणलोग कानून-का जो स्वरूप निर्द्धारित कर देते थे, उसीको ज्योंका-त्यों कार्य-में परिणत करनेके लिए राजा बाध्य रहता था। मंत्रणा परि-षद्में केवल विदेशियोंके साथ सम्पर्क रखने, सामरिक-नीति तथा युद्ध और शक्ति-स्थापनकी व्यवस्था करने, एवं बहुतसे शासन चलानेके कामोंमें राजा ही सर्वेसर्वा था—सबके ऊपर था। शासनके जिन कार्योंद्वारा समाजका साधारण कल्याण हो,—जैसे शान्ति-शृंखलाका स्थापन और रक्षण एवं सामा-जिक कुरीतियोंका निवारण,—तथा इसी प्रकारके वे सब काम जो राजाद्वारा ही सुचारु रूपसे परिचालित हो सकें, उन सब मामलोंमें अपनी इच्छाके अनुसार सुव्यवस्था करने-का राजाको पूर्ण अधिकार था। धर्मके विरुद्ध न जाकर राजा किसी आदमीपर अनुग्रह और किसीका निग्रह कर सकता था;

फिर भी ऐसा करते समय उसे इस बातपर पूर्ण दृष्टि रखनी पड़ती थी कि जिसमें जनसाधारणका साधारण कल्याण और उन्नति हो।

अतएव, प्राचीन भारतके राष्ट्रतंत्रमें स्वेच्छाचारी राजाके खयाल अथवा अत्याचारको कोई स्थान नहीं था। अन्यान्य बहुतसे देशोंके इतिहासोंमें राजाओंकी पाशविक निष्ठुरता और नृशंसतापूर्ण अत्याचार तो उनका साधारण काम देखनेमें आता है; किन्तु भारतके राष्ट्रतंत्रमें उसकी सम्भावना बहुत ही कम थी। तथापि राजाके लिए धर्मकी अवज्ञा करके एवं राजशासनकी शक्तिका अपव्यवहार करके अत्याचारी हो जाना असम्भव नहीं था। इसीसे कानून बनानेवालोंने राजाको अत्याचारी होनेसे रोकनेकी व्यवस्था कर रखी थी। राजपद्की पवित्रता और मर्यादाके रहते हुए भी यह नियम बना हुआ था कि, जब राजा धर्म-मार्गको छोड़ देगा, तब उस राजाको राजा माननेके लिए प्रजा वाध्य न होगी। मनुने तो यहाँतक व्यवस्था दी है कि, अन्यायी और अत्याचारी राजाको पागल कुत्तेकी भाँति मार डालना प्रजाका कर्तव्य है। मनुके समान श्रेष्ठ महापुरुषके प्रामाणिक ग्रंथके इस उल्लेखसे सूचित होता है कि राजाको अवाध सामर्थ्य देना एवं हर हालतमें राजाका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार स्वीकार करना भारतकी राष्ट्रीय नीतिका कोई विधान नहीं। इसी प्रकार विद्रोहके अधिकारने प्रजाको जिस कार्यमें परिणत किया था, उसका दृष्टान्त हम अपने साहित्यमें तथा इतिहासमें भी देख पाते हैं। और भी एक प्रकारका उपद्रव-रहित मार्ग था,—राज्य छोड़कर चले जानेका भय-प्रदर्शन करना। बहुत समयपर इसके भयसे ही

अत्याचारी राजामें सद्बुद्धि आ जाती थी। सत्रहवीं शताब्दीमें भी दक्षिण देशमें एक अप्रिय राजाको इसी प्रकार राज्य छोड़कर चले जानेका भय दिखलाया गया था; सर्वसाधारण-सभामें घोषित हुआ था कि यदि कोई आदमी राजाकी किसी भी प्रकारकी सहायता करेगा तो वह विश्वासघातक समझा जायगा। इनके अतिरिक्त एक प्रचलित प्रतिकार और था—मंत्रियोंकी परिषद् अथवा जनसाधारणकी परिषद्के द्वारा राजाको राज्य-च्युत करना। इस प्रकार भारतमें जो राजतंत्र गठित हुआ था, वह कार्यतः संयत था, कार्य-कुशल था—कल्याणकारक था। जिस कामका भार उसे सौंपा गया था, वह सुचारु रूपसे सम्पादित होता था और स्थायी भावसे वह राजतंत्र सर्वप्रिय हो गया था। जो भी हो, वह राजतंत्र एक प्रकारका प्रजातंत्र ही था। वह जनताद्वारा अनुमोदित और प्रभावपूर्ण था अवश्य, किन्तु प्राचीन भारतमें प्रजातंत्रके अस्तित्वसे भी हमलोग यही समझते हैं कि भारतके राष्ट्र और समाज-गठनका राष्ट्रतंत्र ही अपरिहार्य अंग नहीं। हम यदि राजतंत्रकी आलोचना करके ही शान्त हो जायँ, तो भारतकी राष्ट्रव्यवस्थाकी जो नीति है, उसे नहीं पकड़ सकेंगे—बहुत दूर रह जायँगे। राजतंत्रके पीछे दीवारके रूपमें क्या था, उसका अनुसन्धान करनेसे ही भारतके राष्ट्रगठनका मूल स्वरूप हमे दृष्टिगोचर होगा।

भारतीय राष्ट्र-व्यवस्थाकी मूलनीति और उसका स्वरूप
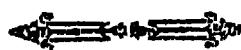
भारतीय राष्ट्र-व्यवस्थाका असली स्वरूप समझनेपर, उसे स्वतंत्र रूपसे, जातिके चिन्ता-प्रवाह और जीवनके अन्यान्य अंशों-से अलग देखना ठीक नहीं। राष्ट्रको तो समाजके जीवनके एक अंगके रूपमें ही देखना होगा।

जाति अथवा महान मानव-समष्टि वस्तुतः एक सजीव सत्ताकी भाँति (An organic living being), उसकी समष्टिगत या साधारण आत्मा है—मन है—शरीर है। व्यक्तिके दैहिक जीवनके समान ही समाजके जीवनका भी जन्म होता है, विकाश होता है, अवनति होती है। यदि यह अन्तिम अवस्था (अवनति) बहुत बढ़ जाती है, अवनति और क्षय की गति रोकी नहीं जाती, तो जिस प्रकार मनुष्य अपनी वृद्धिके बाद मृत्युके मुखमें पड़ जाता है, वैसे ही जातिको भी मृत्युके मुखमें जाना पड़ता

है। भारत और चीनको छोड़कर संसारकी सारी पुरानी जातियाँ इसी प्रकार नष्ट हुई हैं। किन्तु समष्टिगत सत्तामें यह भी शक्ति है कि वह अपनेको फिरसे जीवित कर सकती है— नाशसे अपनेको बचाकर फिर नया जीवन आरम्भ कर सकती है। कारण यह कि, प्रत्येक जातिके भीतर एक मूल-भाव और आदर्श काम करता रहता है, और वह जातिके शरीरकी भाँति आसानीसे नष्ट नहीं हो जाता; वह आदर्श यदि यथेष्ट शक्तिशाली, उदार और प्रेरणामय होता है तथा लोगोंके मनमें और प्रकृतिमें यदि तेज रहता है, प्राण रहता है, सराहनीय भाव रहता है, जिसके द्वारा रक्षण शीलताके साथ सदा विकाश और वृद्धिका सामंजस्य किया जा सके, जातीय आदर्शको नवीन अवस्था-में नये भावसे जीवित करके ऊपर उठाया जा सके, तो वह जाति ध्वंसकी चरम सीमापर पहुँचनेके पहले अनेक बार पतन और उत्थानसे होकर गुजर सकती है। इसके सिवा यह जो जातीय भाव और आदर्श है, वह जातिकी समष्टिगत सत्ताके ही आत्म-प्रकाशकी धारा है और प्रत्येक समष्टिगत आत्मा एक महान नित्य सनातन आत्माकी अभिव्यक्ति और प्रकाश-का केन्द्र है। वह सनातन आत्मा सदा अपनेको प्रकाश करती है तथा मानव-जातिके पतन और अभ्युत्थानद्वारा मानव-समाज-में अपनेको पूर्ण रीतिसे प्रकट करना चाहती है। इसलिए जो जाति केवल बाहरके स्थूल जीवनमें निवास नहीं करती, यहाँतक कि जो मूल जातीय भाव उसके विकाशको नियंत्रित करता तथा जातिको विशेष मनस्तत्त्व और विशिष्ट प्रकृति प्रदान करता है, केवल उसी मूल भावको पकड़े नहीं रहती

बल्कि उसके पीछे जो आत्मा है, अध्यात्मकी सत्ता है—उसकी खोज करती एवं उस गूढ़ आत्मसत्तामें सज्ञान होकर निवास करना सीखती है, उस जातिको ध्वंस नहीं होना पड़ता, दूसरी जातिमें मिलकर अपना अस्तित्व मिटाना नहीं पड़ता अथवा नयी जातिके लिए स्थान छोड़कर पूर्ण रीतिसे लय नहीं होना पड़ता; इसके बदले वह स्वयं ही बहुतसे छोटे-छोटे जन-समाजको अपनेमें मिलाकर अपने ऊँचे-से-ऊँचे स्वाभाविक विकाशका साधन कर सकती है और मृत्युको जीतकर बारम्बार नया जीवन प्राप्त कर सकती है। यद्यपि किसी-किसी समय ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अब उसका ध्वंस होना अनिवार्य है, फिर भी वह जाति आत्माकी शक्तिसे पुनरुज्जीवित हो उठती है और कदाचित् पहलेकी अपेक्षा भी अधिक गौरवान्वित युगका आरम्भ कर सकती है। भारतका इतिहास इसी प्रकारकी एक जातिका इतिहास है।

जिस मूल भावने भारतवासियोंके जीवन, शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक आदर्श-समूहको नियंत्रित किया है, वह है—मनुष्यकी असली सत्ताका, आत्माका पता लगाना तथा जीवनको ऐसे काममें लगाना, जिससे जीवन-द्वारा ही मनुष्य आत्माको प्राप्त कर सके, अज्ञान प्राकृत जीवनसे उठकर दिव्य अध्यात्म-जीवनमें स्थित हो सके। अवश्य ही देह, प्राण, मनका जो नीचेका प्राकृत जीवन है, उसकी स्फूर्ति और उसके विकाशका साधन करके ही मनुष्यका अध्यात्म जीवन प्राप्त करना सम्भव है। सबके ऊपर यही अध्यात्म आदर्श है, इसी बातको भारत कभी भी नहीं भूला,—यद्यपि राष्ट्र और समाजके गठनमें अनेक बार

बहुतसा बाहरी परिवर्त्तन करना नितान्त आवश्यक हो गया था। किन्तु समाजके जीवनका मनुष्यकी असली आत्मासे मुकाबला करना, मनुष्यकी अध्यात्म-सत्ताका समाजके बाहरी जीवनमें कोई श्रेष्ठ विकाश-साधन करना अत्यन्त कठिन है; धर्म, चिन्तन, शिल्पकला, साहित्य आदि मनके व्यापारोंमें आध्यात्मिकताका प्रकाश करना उसकी अपेक्षा बहुत ही सरल है,—यद्यपि इन विषयोंमें भारत बहुत ऊँचे शिखरपर चढ़ सका था, वाह्य सामाजिक जीवनमे आत्माका नितान्त आंशिक प्रकाश करना तथा बिलकुल अधूरी परीक्षा करना छोड़ और अधिक कुछ भी करना सम्भव नहीं हुआ। नाना प्रकारके रूपकों-(Symbolism) द्वारा आध्यात्मिकताका साधारण प्रभाव, जीवनकी सारी उच्चताओंमें अध्यात्म लक्ष्यका स्पर्श, समाजके जीवनमे एक विशेष उन्नति तथा अध्यात्म आदर्शके अनुकूल अनुष्ठानोंकी सृष्टि—केवलमात्र इन्हींको कार्यमें परिणत करना सम्भव हुआ था। भारतोय शिक्षा-दीक्षामें अर्थ और काम मानव-जीवन और कर्मके दो प्राथमिक उद्देश्यके नामसे स्वीकृत हुए थे। राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति उन्हीं दोनों उद्देश्योंका साधन करनेके स्वाभाविक क्षेत्र हैं। जीवनके इस वाह्यकी ओर ऊँची नीति या धर्मका स्थान केवल आंशिक रूपसे लानेके अतिरिक्त विशेष कुछ कहीं भी सम्भव नहीं हुआ तथा राजनीतिके क्षेत्रमें धर्मका स्थान बिलकुल ही कम था। कारण, नीतिधर्मका अनुसरण करके राजनीतिक कार्योंके चलानेकी चेष्टा साधारणतः एक प्रकारके छलके सिवा और कुछ भी नहीं है। मानव-जातिकी भूतकालके इतिहासमें अबतक समष्टिगत वाह्य-जीवनके साथ

मोक्ष या मुक्त अध्यात्म जीवनका प्रकृत संयोग अथवा समन्वय साधन करना आदर्शके हिसाबसे कहीं भी गृहीत हुआ है या नहीं, इसमें सन्देह है,—इस विषयमें कृतकार्य होना तो बहुत दूरकी बात है। मनुष्य अभी भी उसके उपयोगी परिणत अवस्थामें नहीं पहुँचा है। इसीसे हम देखते हैं कि भारतमें मोक्ष-लाभकी साधना व्यक्तिगत जीवनकी ऊँची साधना समझी गयी है; किन्तु सामाजिक, अर्थनीतिक, राजनीतिक जीवन-प्रवाहको धर्मके द्वारा ही नियंत्रित करनेकी चेष्टा हुई है और आध्यात्मिक सार्थकताको केवल छायाकी भाँति पीछे रखा गया है; भारतका प्राचीन समाज इससे अधिक और आगे नहीं बढ़ सका है। फिर भी उस चेष्टाको उसने छोड़ा नहीं, धैर्यके साथ उसमें लगा रहा और इसीसे भारतकी समाज-व्यवस्थाने अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। भारतका पुराना आदर्श है, आध्यात्मिकताके साथ जीवनकी समन्वय करना, गम्भीर अध्यात्म सत्यके ऊपर मनुष्यकी समष्टिगत सत्ताके जीवन और कर्मको स्थापित करना, हमलोगोंके जीवनमें अभीतक जो अध्मात्म सम्भावनाएँ प्रकट नहीं हुई हैं, उनके ऊपर समाजको स्थापित करना तथा इसी तरह जातिके जीवन-को अध्यात्म रूपमें बनाना, जिसमें वह समूची मानव-जातिकी महान आत्माकी लीला हो, विराट् विश्व-पुरुषकी एक सचेतन समष्टिगत सत्ता और शरीर हो—इस आदर्श और लक्ष्यको सम्भवतः भविष्यमें भारतको ही सफल बनाना होगा; लक्ष्यको और भी पूर्ण और प्रसारित करके, पूरी अभिज्ञता, और भी ठास ज्ञान प्राप्त करके भविष्यमें भारत ही इस प्रकार अध्यात्म

सत्यके ऊपर समष्टिगत समाज-जीवनको स्थापित कर सकेगा।

और भी एक विषयका लक्ष्य करना होगा, जिसमें भारतकी प्राचीन राष्ट्र-व्यवस्थाके साथ यूरोपका पार्थक्य हुआ है और जिसके लिए भारतकी आन्तरिक शिक्षा-दीक्षाकी भाँति राष्ट्र-जीवनको भी पाश्चात्य आदर्श-(Standards) के अनुसार विचार नहीं किया जा सकता। मानव-समाजको पूर्ण विकाशकी अवस्थामें पहुँचनेके लिए क्रम-विकाशके तीन स्थानोंसे होकर जाना पड़ता है। पहला स्थान वह है, जब कि समाजके अनुष्ठान और कर्म-समूह अपनी स्वाभाविक जीवन-लीलासे स्वतः स्फूर्त्त होते हैं। उस समय समाजका सब विकाश, सब गठन, रीति-नीति, अनुष्ठान जीवनके स्वाभाविक विन्यास-(रचना) से आबद्ध हो जाता है, सबकी प्रेरणा होती है प्रधानतः समाज-जीवनके मग्न-चैतन्यके स्थानसे; सज्ञानसे इच्छा करके न करनेपर भी अपने आप वह सबके भीतरसे जातिके समष्टिगत मनस्तत्त्व, प्रकृति, शरीर और प्राणका प्रयोजन प्रकाशित होता है। वह सब टिका रहता है या परिवर्त्तित होता है बहुत-कुछ भीतरी प्रेरणाके दबावसे और कुछ समष्टिगत मन और प्रकृतिके ऊपर पारिपार्श्विक अवस्थाके दबावसे। इस अवस्थामें लोग सज्ञान विचार-बुद्धि संचालन करनेके समान सचेतन (Self-Conscious) नहीं हो जाते, समष्टिगत रूपसे चिन्ता करना नहीं सीख लेते, और न समष्टि-जीवनको विचार-बुद्धिके द्वारा नियंत्रित करनेकी चेष्टा ही करते हैं, परन्तु प्राणकी स्वाभाविक प्राप्तिके अनुसार जीवन व्यतीत अवश्य करते हैं। अन्यान्य प्राचीन और मध्ययुगके जन-संघ-(Communities) की भाँति भारतीय समाज और

राष्ट्रकी प्रथमावस्था इस प्रकारकी अवस्थासे ही दब गयी थी। बाद जब सामाजिक आत्म-चेतना जाग उठी, तब भी वह प्राथमिक अवस्था नष्ट नहीं हुई बल्कि वह और भी सुगठित, परिवर्द्धित और सुनियंत्रित हो गयी थी। इससे सूचित होता है कि वह अवस्था राजनीतिक कानून बनानेवालों या समाजके नेताओंके द्वारा पैदा नहीं होती। हर समय वह दृढ़ भावसे स्थिति-शील सजीव समाज-तंत्र थी ; भारतवासियोंके मन, सहोदर संस्कार और प्राणकी सहजोपलब्धिके लिए स्वाभाविक थी।

समाज-विकाशकी दूसरी अवस्था तब आती है, जब जातिका समष्टिगत मन क्रमशः अधिकतर बुद्धिसे सचेतन हो जाता है; पहले तो अपेक्षाकृत शिक्षितोंमें, बाद और भी साधारण रूपमें; पहले तो स्थूल भावसे, और फिर क्रमशः अधिकतर सूक्ष्म भावसे तथा जीवनके सब क्षेत्रोंमें ही सचेतनता आ जाती है। उस समय जाति समष्टिगत भावसे अपने जीवन, सामाजिक ध्यान-धारणा, अनुष्ठान आदिको विकशित चिन्ताशक्तिके प्रकाशमे पर्यालोचना करती तथा अन्तमें विश्लेषण-मूलक और गठन-मूलक बुद्धिके द्वारा सारे विषयोंको विचार करके देखती और नियंत्रित करती है। इस अवस्थामें कुछ महान होनेकी सम्भावना रहती है, किन्तु इस अवस्थामें कठिन बाधाएँ भी कम नहीं रहतीं। स्वच्छ बोध-शक्ति तथा अन्तमें ठीक-ठीक वैज्ञानिक ज्ञानकी वृद्धिमें जो सुविधाएँ हर समय हुआ करती हैं, समाजकी इस अवस्थामें पहले-पहल वे ही सुविधाएँ प्राप्त की जाती हैं। नियम-निष्ठा, शैथिल्य-हीन और सुरक्षित दक्षता ही इसकी अन्तिम परिणति है। समालोचन-मूलक और गठन-मूलक बुद्धि

तथा वैज्ञानिक बुद्धिके पूर्ण प्रयोगके पुरस्कार और फल-स्वरूप यह दक्षता प्राप्त की जाती है। समाज-विकाशकी इस अवस्थाका और भी एक परिणाम है—महान और उज्वल भावों तथा आदर्शों-का आविर्भाव। ये आदर्श मनुष्यको प्राणकी लीलासे, उसके आदिम सामाजिक, अर्थनीतिक और राजनीतिक आवश्यक-ताओंके ऊपर उठाना चाहते हैं, आचार-अनुष्ठानके ऊपर उठाना चाहते हैं, समष्टिका जीवन लेकर कल्पनाके तेज-पूर्ण अनेक निर्भीक परीक्षाओंकी प्रेरणा ला देते तथा इसी प्रकार और भी ऊँचे समाज-जीवनकी सम्भावनाका क्षेत्र खोल देते हैं। जीवनके ऊपर इस प्रकारके वैज्ञानिक बुद्धिके प्रयोग तथा इसके ऊँचेसे-ऊँचे फल-स्वरूप नियम-निष्ठ, सुसम्पन्न, सुरक्षित दक्षतासे, इस प्रकारके सज्ञानसे महान सामाजिक और अर्थनीतिक आदर्शोंके अनुसरण तथा इस चेष्टाकी सफलताके परिणाम-स्वरूप क्षेत्र-विशेषमें समाजकी प्रगतिसे, सामाजिक और राजनीतिक चेष्टाओं-को विशेष सहायता मिली है—उनमें चाहे जितनी असुविधा या अपूर्णता क्यों न हो।

दूसरी ओर, बुद्धि जब इस प्रकार जीवनके उपादानके ऊपर एकमात्र नियन्ता यानी सारथी होनेका दावा करती है, तब वह यह नहीं देखना चाहती कि समाज एक सजीव पदार्थ है और जीवित भावसे ही उसका विकाश होता है। वह तो यह देखती है कि वह मानो कोई जड़ यंत्र है—उसे इच्छानुसार चलाया जा सकता है; ईंट, लकड़ी अथवा लोहेकी भाँति प्राणहीन जड़ पदार्थके अनुसार बुद्धिके खयालके मुताबिक वह भी बनाया जा सकता है। अधिक कूटतर्क और कल्पना-जालकी रचना करने

जाकर तथा यंत्रवत् दक्षता ढूँढ़ने जाकर बुद्धि जातिके जीवनके सहज सूत्रोंको खो देती है; जातिकी जीवनी शक्तिकी जो गूढ़ उत्पत्ति है, उसके साथ योग-सूत्रको अलग कर बैठती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाहरी अनुष्ठान और पद्धतिके ऊपर, कानून-कायदा और शासन-प्रणालीके ऊपर ही अत्यधिक भावसे निर्भर करना पड़ता है तथा जीवित जातिके बदले एक यंत्रवत् राष्ट्रीय अनुष्ठान बनानेकी ओर झुकना पड़ता है। जो समाज-जीवनका एक आधार अथवा यंत्रमात्र है, वही इस जीवनका स्थान ग्रहण करनेकी चेष्टा करता है और इस प्रकार एक शक्ति-शाली किन्तु यंत्रवत् और कृत्रिम संगठन (organisation) पैदा होता है। किन्तु बाहरकी ओर यह जो लाभ होता है, उसके मूल्य-स्वरूप मुक्त और सजीव जातिके शरीरमें गढ़-भावसे आत्म-विकाशशील समष्टिकी आत्माका जीवन नष्ट होता है। यांत्रिक पद्धतिके भारी दबावसे प्राण और आत्माकी सहज-प्राप्तिकी क्रियाका निग्रह करना, वैज्ञानिक बुद्धिकी भूल है; यही यूरोपकी दुर्बलता है और इसीने यूरोपकी आशाको प्रतारित किया है, यही यूरोपको उसके निजी ऊँचे आदर्शोंकी स्वाभाविक सिद्धितक नहीं पहुँचने दे रहा है।

जिस प्रकार व्यष्टिगत मानव-जीवनमें, उसी प्रकार समष्टिगत सामाजिक जीवनमें भी तीसरी अवस्थामें पहुँचनेपर ही यह जाना जा सकता है कि सब आदर्शोंको पहले रखनेवाली और पोषण करनेवाली मनुष्यकी चिन्ताकी स्वाभाविक जड़ कहाँ है और उसका सत्य-स्वरूप क्या है, उसे वस्तुतः किस प्रकार कार्यरूपमें परिणत किया जा सकता है, उसके उपाय

और शक्ति की जानकारी भी तभी हो सकती है। सर्वांग सुन्दर सिद्ध समाज केवल दूरकी कल्पना अथवा स्वप्नमात्र नहीं है। जबतक इस तीसरी अवस्थामें नहीं पहुँचा जाता तबतक आदर्श समाज मेघ-खंडकी भाँति दूरीपर रहकर दूर ही खिस-कता जायगा। यदि मनुष्य उसकी ओर दौड़ेगा तो सदा वृत्ता-कार घूमता ही रह जायगा; वह सदैव मनुष्यको आशासे वंचित करेगा; अब पकड़ते हैं तब पकड़ते हैं करते हुए भी मनुष्य उसे पकड़ नहीं सकेगा। यह तीसरी अवस्था तभी आवेगी जब मनुष्य समष्टिगत सत्तामें और भी गम्भीर भावसे जीवन व्यतीत करना आरम्भ करेगा तथा समष्टिगत जीवनको मूलतः प्राणकी आव-श्यकता, प्रेरणा और सहज-उपलब्धिके द्वारा नियंत्रित नहीं करेगा, तर्क-बुद्धिकी रचनाके अनुसार भी नियंत्रित नहीं करेगा; परन्तु उसकी महान सत्ता और आत्माका पता पावेगा एवं पहले प्रधा-नतः और सर्वदा उस आत्माकी एकता, सहानुभूति, स्वतः उत्पन्न स्वाधीनता तथा सजीव नियमानुसार समष्टिके जीवनको संचा-लित करना आरम्भ करेगा। इस आत्माके भीतर ही व्यष्टिगत और समष्टिगत जीवनकी स्वाधीनता, पूर्णता और एकताका सूत्र निहित है। किन्तु इस प्रकारकी चेष्टा आरम्भ करनेके लिए उपयोगी अवस्था अबतक कहीं भी नहीं मिली। कारण यह कि, यह अवस्था तभी आ सकती है, जब अध्यात्म-जीवनमें पहुँचने और स्थित होनेकी चेष्टा करना केवल कुछ असाधारण व्यक्तियोंका ही साधन नहीं रहेगा, अथवा सर्वसाधारणके बीच लौकिक धर्मा-चरणसे ही पर्यवसित नहीं होगा, बल्कि यही मानव-जीवनका अवश्यमेव पालन करने योग्य प्रयोजन है तथा इसीको ठीक तरह-

से यथार्थ भावसे प्राप्त करके ही मानव-जाति क्रम-विकाशकी परिपाटीमें और एक कदम आगे बढ़ सकती है, लोग उसे प्राप्त कर सकेंगे तथा उसीके अनुसार जीवनका संचालन करेंगे ।

तेजपूर्ण प्राणशक्तिकी जो पहली अवस्था है, उसीके भीतरसे अन्यान्य देशोंके समान भारतकी भी प्रथम छोटी-छोटी जन-समष्टि बन गयी थी ; प्राणशक्तिने सहज और स्वच्छन्द रीतिसे अपने विकाशके मार्ग और आदर्शको ठीक कर लिया था ; समष्टिगत प्राणकी सहजोपलब्धि और प्रकृतिसे ही जीवनकी अवस्थाका, सामाजिक और राष्ट्रनीतिक अनुष्ठानका विकास हुआ था । ये छोटे-छोटे जन-समूह आपसमें मिलकर शिक्षा-दीक्षागत और सामाजिक एकतामें जिस प्रकार बढ़ गये तथा वृहत्से वृहत्तर राष्ट्र बन गये, उसी प्रकार उनमे एक साधारण आत्मा एवं एक साधारण भित्ति और साधारण गठनका विकाश हुआ । उनमें छोटे-छोटे मामलोंमें स्वाधीन विचित्रताका यथेष्ट स्थान था । कठोर एक-रूपता (a rigid uniformity) की कुछ भी आवश्यकता नहीं थी ; साधारण आत्मा और साधारण प्राणकी गति इस विचित्रतापूर्ण विकाशकी स्वाधीनताके ऊपर साधारण एकताका सूत्र स्थापन करनेके लिए पर्याप्त था । यहाँतक कि जिस समय विशाल राज्य और साम्राज्य बनाये जा रहे थे, उस समय भी इन सब छोटे-छोटे राज्यों, प्रजातंत्रोंको यथासम्भव रहने दिया गया था और उन्हे केवल अपना अंग-बना लिया गया था । नये समाज और राष्ट्र गठनमें छोटे-छोटे राज्योंको नष्ट नहीं कर दिया गया था । जातिके स्वाभाविक क्रम-विकाशमें जो टिका नहीं रह सकता था या जिसके रहनेकी

कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, वह अपनेसे खिसक गया तथा अतीतके गर्भमें विलीन हो गया था। जो राज्य नयी अवस्था और परिस्कारके अनुयायी होकर अपनेको स्वतः परिवर्त्तित कर टिक सके थे, उन्हें रहने दिया गया था। भारतवासियोंकी विशिष्ट प्रकृति और जीवन-विकाशकी धाराके साथ जिसका गूढ़ सामंजस्य था, उसे भारतके स्थायी समाज और राष्ट्र-गठनके बीचमें स्थान मिला था।

बाद जब चिन्ताशीलता और बुद्धिके उत्कर्ष-साधनका युग आया, तब भी स्वतः प्रकाशमान जीवनकी नीति सम्मानित हुई थी। समाज, अर्थनीति और राजनीतिके विषयमें, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्रमें, भारतके ऋषिलोग अव्यावहारिक तर्क-बुद्धि-(abstract intelligenee) की सहायतासे समाज और राष्ट्रमें भिन्न-भिन्न आदर्शोंकी रचना करनेको अपना काम नहीं समझते थे; समष्टिगत मन और प्राणके द्वारा समाज-जीवनके जिस अनुष्ठान और धाराका पहले गठन हुआ था, उसीको वे व्यावहारिक बुद्धि-(Practical reason) की सहायतासे समझना और सुन्दर रीतिसे संचालित करना चाहते थे; आदिम अवयवोंको नष्ट करके, उनके विकाश, दृढ़ता और सामंजस्यका साधन करना चाहते थे; जो कुछ नया अवयव, नया भाव ग्रहण करना आवश्यक होता था, उसे अवयव-वृद्धि करके या आवश्यक परिवर्त्तनके हिसाबसे ग्रहण कर लिया जाता था,—किन्तु पुराने-को नष्ट करके अथवा विप्लव-साधन करके नहीं। इसी रीतिसे पूर्व प्रचलित राष्ट्रतंत्रोंको पूर्ण विकशित राजतंत्रमें परिणत किया गया था; राजा या सम्राटके एकाधिपत्यमें विद्यमान अनुष्ठानोंको

अंगीभूत करके यह परिवर्त्तन किया गया था। ऊपरमें राजतंत्र या साम्राज्यतंत्रके दबाकर बैठे रहनेसे इनमें बहुतोंकी पद-मर्यादा और स्वरूपका परिवर्त्तन हो गया था अवश्य, किन्तु जहाँतक सम्भव था वे लुप्त नहीं हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि हमलोग भारतमें यूरोपकी भाँति बुद्धिद्वारा पैदा हुए आदर्शके अनुसरणसे राजनीतिक प्रगति (Progress) अथवा विप्लव-मूलक परीक्षा नहीं देख पाते; इस प्रकारकी बुद्धिद्वारा आदर्श-की रचना करके समाज और राष्ट्रमें विप्लवके भीतर प्रगति और परीक्षा करना प्राचीन और आधुनिक यूरोपका विशिष्ट लक्षण है। दूसरे पक्षमें, भारतीयोंके विचारसे प्राचीन सृष्टिके प्रति गम्भीर श्रद्धा अधिक शक्तिशाली है। कारण, वह सृष्टि भार-तीय मन और प्राणकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति और भारतके स्वधर्मका सत्य प्रकाश है। यही उसकी रक्षणशील प्रवृत्ति है और यह परवर्त्ती महान बुद्धि-विकाशके युगमें भी क्षुण्ण नहीं हुई वरन् और भी दृढ़ भावसे प्रतिष्ठित हुई थी। प्रतिष्ठित व्यवस्था और शृंखलाको नष्ट न करके, समाजमें और राष्ट्रमें अतीत दृष्टान्तका अनुसरण करके, धीरे-धीरे आचार-व्यवहार और अनुष्ठानका परिवर्त्तन तथा क्रम-विकाश करना ही प्रगतिका एकमात्र मार्ग था ; इसके सिवा और कोई भी मार्ग न-तो सम्भव था और न स्वीकृत ही होता। पक्षान्तरमें, जातिके जीवनकी स्वाभाविक रचनाके स्थानपर यांत्रिक रचना जो कि यूरोपीय सभ्यताका रोग-स्वरूप हो गयी है, भारतीय राष्ट्रनीति कभी भी उस बुरी अवस्थामें नहीं पहुँची। यूरोपके यांत्रिक विन्यास-(Machanical order) का इस समय प्रधान विषय हो रहा है, विकट

कृत्रिम अमलातंत्र (नौकरशाही) और शिल्पतंत्र राज्य (The Bureaucratic and Industrial state)। आदर्श रचना करनेवाली बुद्धिकी जो सुविधाएँ हैं, वे भारतीय राष्ट्रनीतिमें नहीं थीं; किन्तु यांत्रिकताकी सृष्टि करनेमें जो असुविधाएँ हुआ करती हैं, वे असुविधाएँ भी बिलकुल नहीं थीं।

आत्मवृत्ति-(Intution) का अनुसरण करना ही भारतीय मनका पुरातन गम्भीर अभ्यास था। यहाँतक कि जिस समय भारतवासी यौक्तिक बुद्धि-(reasoning intelligence) का अनुशीलन करनेमें अत्यधिक मात्रामें व्यस्त थे, उस समय भी वह अभ्यास अक्षुण्ण था। इसलिए भारतकी राष्ट्रनीतिक और सामाजिक चिन्ताधाराने हर समय चेष्टा की है आत्माकी सहजोपलब्धिके साथ प्राणकी सहजोपलब्धिको मिला लेनेकी; बुद्धिका प्रकाश बिखेरा है केवल इनके बीच मध्यस्थता करने, शृंखला और सामंजस्य स्थापन करनेके लिए। जीवनके निश्चित और स्थायी वास्तविक तथ्यके ऊपर उसने अपनेको दृढ़ताके साथ प्रतिष्ठित करना चाहा है; आदर्शवादके लिए बुद्धिके ऊपर निर्भर न करके आत्माके आलोक, प्रेरणा और ऊँची अनुभूतिके ऊपर निर्भर किया है; कोई पद-क्षेप ठीक हो रहा है या नहीं, बुद्धिके विचारके द्वारा परीक्षा और निश्चय कर लिया है; बुद्धि, प्राण और आत्माका स्थान ग्रहण न करके उनकी केवल सहायतामात्र की है; उसकी धारणा थी कि हर समय प्राण और आत्मा ही सत्य और निर्दोष भावसे सृष्टि कर सकता है। भारतका अध्यात्म-भावापन्न मन जीवनको आत्माकी अभिव्यक्ति समझता है; समाज सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माका शरीर है, समष्टिगत मानव-

समूह ब्रह्माका प्राण-शरीर है, समष्टि-नारायण है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति व्यक्तिगत ब्रह्म है, स्वतंत्र जीव है, व्यष्टि-नारायण; राजा भगवानका सजीव प्रतिनिधि तथा समाजके अन्यान्य भाग और श्रेणियां समष्टिगत आत्माकी भिन्न-भिन्न स्वाभाविक शक्तियाँ हैं। अतएव, स्वीकृत रीति-नीति, अनुष्ठान, आचार-व्यवहार, सब अंशोंके सहित समाज और राष्ट्र-शरीरका गठन, इन सबका आधिपत्य स्वीकार करनेके लिए सबलोग केवल वाध्य ही नहीं थे बल्कि ये सब बहुत अंशोंमें पवित्र और पूजा करने योग्य समझे जाते थे।

भारतके पूर्वजोंने समझा था कि प्रत्येक व्यक्ति यदि स्वधर्मका अनुष्ठान करता है, अपनी प्रकृति तथा अपनी श्रेणी अथवा जातिकी प्रकृतिके सत्य और आदर्शका अनुसरण करता है तथा इसी प्रकार प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक संघ-बद्ध समष्टि-जीवन भी यदि अपने धर्म और अपनी प्रकृतिका अनुसरण करता है, तो विश्व-जगतकी जिस प्रकार सुश्रृंखला रक्षित होती है, मानव-जीवनमें भी उसी प्रकार श्रृंखला रक्षित होती है। परिवार, कुल, जाति, श्रेणी, सामाजिक, आध्यात्मिक, श्रमिक और अन्य प्रकारके संघ, नेशन (nation), जन-समूह (people), ये सब सजीव समष्टि-सत्ता हैं; ये सभी अपने-अपने धर्मका विकाश करते एवं उसी धर्मका अनुसरण करनेसे इन सबकी रक्षा होती है; उसी धर्मका अनुसरण करनेसे ये सब टिके रह सकते तथा सुचारु रूपसे कर्म कर सकते हैं—अन्यथा नहीं। और फिर पद-मर्यादा-जनित और दूसरेके साथ सम्बन्ध-जनित कर्त्तव्य-धर्म है, देश-कालकी अवस्थाका अनुयायी युग-धर्म है, सार्वजनिक

रेलिजन[1] और नैतिक धर्म है—ये सब धर्म स्वधर्म (स्वभावानुसार कर्म ही स्वधर्म है) के अनुसार ही क्रिया करके शास्त्र-विधान समूह-को सृष्टि करते हैं। प्राचीन समयमें यह धारणा थी कि व्यक्ति-गत भावसे और समष्टिगत भावसे मनुष्यकी अवस्था जिस समय पूर्ण रीतिसे अविकृत और निर्दोष (यही काल्पनिक सत्य-युग या स्वर्ण-युग है) थी, उस समय और किसी राजनीतिक शासन-तंत्रकी, राज्यकी अथवा समाजके कृत्रिम अनुष्ठानकी आवश्यकता नहीं थी। कारण, उस समय सबलोग अपनी-अपनी प्रबुद्ध-आत्मा और भागवत-अधिष्ठित सत्ताके सत्यके अनुसार स्वच्छन्द रीतिसे जीवन बिताते थे तथा उसीके लिए अपनेमें आभ्यन्तरिक दिव्य-धर्मका अनुसरण करते थे। अतएव आत्म-नियंत्रणशील व्यक्ति एवं आत्म-नियंत्रणशील समाजका अपनी-अपनी सत्ताके यथार्थ और स्वच्छन्द धर्मानुसार जीवन-व्यतीत करना ही आदर्श था। किन्तु वास्तवमें मनुष्यकी जो अवस्था है उसमें उसकी प्रकृति व्यक्तिगत और सामाजिक धर्मकी विकृति और विच्युतिके अधीन, अज्ञान और व्यभिचारी है। इस प्रकारकी अवस्थामें समाजके स्वाभाविक जीवनके ऊपर राज्य, राजशक्ति, या शासनतंत्रको रख देनेकी जरूरत है ; यह राजशक्ति अनुचित रूपसे समाजके

१—'रेलिजन' (religion)का अर्थ साधारणतया लोग धर्म करते हैं; पर वास्तवमें अँग्रेजीमें रेलिजन कहनेसे जिस अर्थका बोध होता है, उसकी अपेक्षा भारतके 'धर्म' शब्दका अर्थ अधिक व्यापक है। रेलिजन तो धर्मका अङ्गमात्र है। सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक सब तरहकी नीति और आदर्शका साधारण नाम धर्म है। 'धर्म और जातीयता' नाम-की पुस्तकमें 'योगिराजने इसका अच्छा स्पष्टीकरण किया है।—अनुवादक।

जीवनमें हस्तक्षेप नहीं करेगी, समाज-जीवनको प्रधानतः स्वाभाविक नियम और रीतिनीतिके अनुसार स्वच्छन्द रीतिसे विकशित होने देना पड़ेगा ; राजशक्ति तो केवल यह देखेगी कि, समाज ठीक मार्गपर चल रहा है या नहीं, धर्म तेज-पूर्ण है या नहीं, उसका पालन किया जा रहा है या नहीं। राजशक्ति तो धर्मके विरुद्ध आचरण करनेवालोंको ताड़ना देगी, उसका दमन करेगी, यथासाध्य अधर्माचरणका निवारण करेगी तथा इसी प्रकार समाजको अपने मार्गपर ठीक तरहसे चलनेमें सहायता करेगी। जब धर्म और भी अधिक विकृत अवस्थामें उपस्थित होता था, तब समूचे समाज-जीवनको वाह्य या लिखित शास्त्रानुमोदित विधि-निषेधके द्वारा नियंत्रित करनेकी आवश्यकता पड़ती थी ; शास्त्रकारों और कानून बनानेवालोंकी जरूरत पड़ती थी ; किन्तु कानून या शास्त्रकी रचना करना राजा अथवा राजशक्तिका कार्य नहीं था ; राजशक्ति तो केवल उसका प्रयोग करनेवाली (administrator) थी ; समाज और धर्म-सम्बन्धी विधि-विधान निर्द्धारण करते थे ऋषिलोग एवं उनकी रक्षा और व्याख्या करते थे ब्राह्मणलोग। और फिर यह विधि-विधान (लिखित हो अथवा बिना लिखा हुआ) राजशक्ति या व्यवस्थापकद्वारा रचे जानेकी वस्तु नहीं था। वह पहलेसे था। केवल उसके स्वरूपको वर्णना और व्याख्या कर दी जाती थी अथवा समाजके जीवन और चेतनामें स्थित रीति-नीतिसे वह किस प्रकार स्वाभाविक रीतिसे उठा है, यह दिखला दिया जाता था। इस प्रकार कृत्रिमताके बढ़ते-बढ़ते अन्तमें ऐसी अधम अवस्था आवेगी ही, जब

समाज द्वन्द्व, अनाचार और विशृङ्खलासे भर जायगा, धर्म नष्ट-प्राय हो चलेगा (इसीका नाम कलियुग है)। इस प्रकार चरम ग्लानिकी अवस्था उत्पन्न होनेपर विप्लवकी रक्त-रेखाके भीतरसे मनुष्यात्मा फिर अपनेको वापस पाती है, और फिर वह नये भावसे आत्म-प्रकाश करनेमें अग्रसर होती है।

अतएव राजशक्तिका, राजाका, राज-परिषद्का और राष्ट्रके अन्यान्य शासन-विभागका, प्रधान काम था समाज-जीवनके स्वाभाविक विकाशको अक्षुण्ण रखनेमें सहायता करना ; राज-शक्ति थी धर्मका पालन करनेवाली और प्रयोग करनेवाली। समाजके ही कार्यके अन्तर्गत था मनुष्यके जीवन धारण और विकाशका प्रयोजन सिद्ध करना, भोग-सुखमें मनुष्यका जो स्वाभाविक दावा है, उस दावेको यथार्थ रीतिसे पूर्ण करना! फिर भी इन सब प्रयोजनों और भोगोंकी नियमित मात्रा थी तथा वे सब नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक धर्मके अनुवर्ती थे। समाज-राष्ट्र शरीर-(Socio-political body) के सब अंगों और सब संघोंका अपना-अपना धर्म था ; वह धर्म उनके स्वभाव उनके स्थान, तथा समूचे समाज-शरीरके साथ उनके सम्बन्धद्वारा निर्णीत होता था। ऐसा सुयोग और सुविधा कर दी जाती थी, जिसमें प्रत्येक अपने-अपने धर्मका अनुसरण स्वाधीन और यथार्थ रूपसे कर सके ; सबको अपनी-अपनी सीमाके भीतर अपने-अपने स्वभावके अनुसार कर्म करनेमें स्वाधीनता दे दी जाती थी ; किन्तु इसके साथ ही यह भी देखना पड़ता था, जिसमें वे अपनी जड़को छोड़ न दें, दूसरेकी सीमामें प्रवेश करनेकी अनधिकार चेष्टा न करें, अपने सत्य मार्गसे च्युत न हो जायँ,

उचित मार्ग छूट न जाय। यही था सर्वोच्च राजशक्तिका काम, यही था सभाकी सहायतासे सपरिषद् राजाका काम। जाति, धर्म-सम्प्रदाय, श्रमिक-संघ, गाँव, शहर आदिके स्वाधीन कामोंमें हस्तक्षेप करना अथवा देशके जीवनके साथ गूढ़ भावसे सम्मिलित आचार-व्यवहारका व्यतिक्रम करना या उनके स्वाधिकारोंका लोप करना राज-शक्तिका काम नहीं था। कारण, यथार्थ रीतिसे समाज-धर्मपालन करनेके निमित्त ये सब अपरिहार्य समझे जाते थे और इन सबपर सबका जन्मसिद्ध अधिकार होता था। राज-शक्तिको जो कुछ करना पड़ता था, वह केवल यही था—सबमें सामंजस्य स्थापित करना पड़ता था, सबपर साधारण रीतिसे शासन रखना पड़ता था, बाहरी आक्रमणों और भीतरी विप्लवोंसे समाज-जीवनकी रक्षा करनी पड़ती थी, अशान्ति और दुष्कर्मका दमन करना पड़ता था, समाजके अर्थनीतिक और शिल्प-विषयक कल्याणका मार्ग परिष्कार करनेमें साधारण रीतिसे सहायता और देखभाल करनी पड़ती थी, हर विषयमें सुविधा है या नहीं, यह देखना पड़ता था, तथा यह सब करनेके लिए दूसरोंमें जिस शक्तिका अभाव रहता था, राजाको उसी शक्तिका व्यवहार करना था।

इसलिए हमलोग देखते हैं कि भारतकी राष्ट्र-व्यवस्था में साम्प्रदायिक स्वातंत्र्य और स्वाधीनता-विधायक एक जटिल अनुष्ठान था। समाजके अन्तर्गत प्रत्येक संघ या सम्प्रदायका अपना स्वाभाविक जीवन था, प्रत्येकको अपने जीवन और कर्मपर पूर्ण रीतिसे अधिकार था, अपने-अपने क्षेत्रमें प्रत्येक एक दूसरेसे पृथक था ; किन्तु सबके साथ सब जानकारीके सम्बन्धसे आबद्ध

थे। सब साधारण समाज-जीवनके कर्त्तव्य और अधिकारमें थे और सबके साथ सब हिस्सेदार थे। प्रत्येक अपने नियम-कानून-का प्रयोग करता था, अपने क्षेत्रमें अपना काम स्वयं चलाता था एवं राजा या सम्राटकी साधारण-सभामें सबके अपनी-अपनी योग्यता और प्रयोजनीयताके अनुयायी प्रतिनिधि रहते थे। राज्य, राजा या सर्वोच्च राज-शक्ति, ये सब थे सामंजस्य साधनके साधारण नियन्त्रण और दक्षता-साधनके यन्त्र। राजाका प्रभुत्व सबके ऊपर था; किन्तु वह एकमात्र सर्वेसर्वा कर्त्ता नहीं था। कारण यह कि, राजा अपने सब अधिकार और क्षमतामें धर्म और कानूनद्वारा वाध्य तथा जनताकी इच्छाके अधीन था। भीतरी कामोंके चलानेमें वह समाज-राष्ट्र-शरीरके अन्यान्य अंशोंके साथ एक भागीदारमात्र था।

भारतीय राष्ट्र-व्यवस्थाकी यही थ्योरी (सिद्धान्त) थी, यही वास्तविक गठन-विन्यास था कि,—सम्प्रदायिक (Communal) स्वाधीनता और स्वतंत्रताका जटिल अनुष्ठान हो, सबके ऊपर सामंजस्य-साधनका एक कर्त्ता हो, राजपुरुष और राजशक्ति हो, उसकी पर्याप्त कार्यकारिणीकी योग्यता और पद पर्याप्त हो, किन्तु वह यथायोग्य व्यवहारमें सीमाबद्ध हो, वह एक साथ ही दूसरोंपर शासन करे, और दूसरोंद्वारा शासित हो, सब विभागोंमें वे सक्रिय हिस्सेदार समझे जायँ, समाज-जीवनके नियंत्रण और संचालन-कार्यमें भी हाथ बँटानेका अवसर दें; एवं राजा, जन-साधारण तथा उसके अन्तर्गत सब सम्प्रदायों और संघोंके धर्मों-की समान भावसे रक्षा करनेके लिए वाध्य था, धर्मकी शृंखला-द्वारा नियंत्रित था। इसके अतिरिक्त समाज-जीवनकी अर्थनीति

और राष्ट्रनीतिकी ओर था धर्मका केवल एक अंशमात्र, एवं वह अंश था अन्यान्य अंशोंके साथ आध्यात्मिक, नैतिक तथा समाजकी उच्चतर शिक्षा-दीक्षाके परिचायक आदर्शके साथ अच्छेद्य भावसे गुँथा हुआ। राजनीति और अर्थनीति नैतिक आदर्श-(Ethical law) के द्वारा प्रभावित थी; राजा तथा उसके मंत्रीलोग, मंत्रणा-परिषद् और साधारण राजसभा, प्रत्येक व्यक्ति, समाजके अन्तर्गत प्रत्येक स्वतंत्र संघ, सभीको प्रत्येक काममें नीतिका विधान मानकर चलना पड़ता था। प्रतिनिधि-निर्वाचनमें किसे वोट देना होगा, कौनसा व्यक्ति मंत्री या राज-कर्मचारी होनेके योग्य है, यह सब निर्द्धारण करनेमें नैतिक चरित्र और उच्च शिक्षा-दीक्षाका लेखा लिया जाता था। आर्यजातिके कार्य-संचालनका प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिए लोगोंको चरित्र और शिक्षा-दीक्षामें बहुत ऊँचा होना पड़ता था। राजा और जन-साधारण-के समूचे जीवनके पीछे और आगे थे धर्मभाव (Religious spirit) और धर्म-प्रचारकलोग। यद्यपि समाजके प्रत्येक अंग और अंशके विशिष्ट विकाशके ऊपर प्रयोजनीय जोर दिया जाता था, तथापि समाज-जीवन ही कोई विशेष रूपसे चरम लक्ष्य नहीं समझा जाता था। परन्तु सब अंशोंके सहित समूचे समाज-स्थापनको ही इस दृष्टिसे देखा जाता था मानों मनुष्यके मन और आत्माकी शिक्षा और विकाशका महान क्षेत्र हो—उस क्षेत्रमें प्राकृत जीवनका विकाश करके मनुष्य क्रमशः अध्यात्म-जीवन लाभ करेगा।

भारतीय राष्ट्र-विकाशकी धारा

प्राप्य प्रमाण-पत्रादिसे जहाँतक जाना जा सका है, भारतीय सभ्यताका समाज-राष्ट्रीय विकाश चार ऐतिहासिक अवस्थाओंसे होकर गुजरा है। पहली अवस्था थी, सरल आर्योंके समाजकी। उसके बाद विशाल परिवर्त्तनके युगमें राष्ट्र-गठन और समन्वयके परीक्षा-मूलक अत्यन्त विचित अनुष्ठानके भीतरसे जातीय-जीवन अग्रसर हुआ है। तीसरी अवस्थामें, राजतंत्रने सुनिश्चित रूपसे गठित होकर समष्टिगत जीवनके बहुमुखी अंशको आपसमें एक दूसरेके साथ सुसम्बद्ध और संगत करके देशगत और साम्राज्य-गत एकताका विधान किया है। अन्तमे आयी है अधःपतनकी अवस्था; भीतरसे उन्नतिकी गति बन्द हो गयी, जातीय जीवन-प्रवाह अचल हो उठा, तथा पश्चिमी एशिया और यूरोपसे नवीन संस्कृति (Culture) और नवीन तंत्रने आकर देशको घर

दबाया। पहले तीन युगोंका विशिष्ट लक्षण है, जातीय अनुष्ठानों-की आश्चर्य-जनक दृढ़ता और उसका स्थायी मजबूत गठन; मूलगत इस स्थिति-शीलताके फलसे जातीय जीवनका प्राणमय और शक्तिमय विकाश धीरे-धीरे संघटित हुआ था। किन्तु फिर इसी कारणवश उसकी निश्चित रूपसे रचना तथा अंग-प्रत्यंगमें प्राणमयता और परिपूर्णता हो सकी थी। यहाँतक कि अधःपतन-के युगमें भी यह दृढ़-प्रतिष्ठता नाशकी गतिको विशेष रूपसे बाधामें समर्थ हुई थी। विदेशी प्रभावसे होनेवाली मृत्युसे बचा-कर केवल आघातमात्र होने दिया था; किन्तु बहुत दिनोंतक उसकी दीवार सुरक्षित रह सकी थी, तथा जिस जगह भी आक्र-मणोंसे आत्म-रक्षा करनेमें भारत समर्थ हुआ था, उसी जगह अपनी विशेष व्यवस्थाका अधिकांश भाग बचा लिया था। यहाँ-तक कि अन्तकी ओर भी वह अपने निजी आदर्श और अनु-ष्ठानोंके पुनरुद्धारके साधनका प्रयास करनेमें बारम्बार समर्थ हुआ था। और इस समय भी यद्यपि वह राष्ट्र-नीतिक व्यवस्था पूर्ण रीतिसे लोप हो गयी है तथा उसके बचे हुए चिह्नोंका जब-र्दस्ती नाश किया गया है, तथापि जिस विशिष्ट सामाजिक बुद्धि और प्रकृतिने उसकी सृष्टि की थी, उसका लोप नहीं हुआ है; समाजकी वर्त्तमान स्रोत-हीन, दुर्बल, विकृत और ध्वंसोन्मुख अवस्थामें भी वह बुद्धि और प्रकृति मौजूद है; यद्यपि इस समय विपरीत तरहकी सारी प्रवृत्तियाँ देखी जा रही हैं, फिर भी एक-बार अपनी इच्छाके अनुसार अपने ढंगसे काम करनेकी स्वाधी-नता पाते ही वह पाश्चात्य विकाशकी गतिका अनुसरण न करके अपनी सत्तासे नयी सृष्टि करनेमें अग्रसर हो सकती है। जाति-

की श्रेष्ठ चिन्ता अस्पष्ट भावसे जो इशारा कर रही है, उसीका अनुगामी होकर समष्टिगत जीवनकी तीसरी अवस्था और मानव-समाजकी अध्यात्म-भित्ति आरम्भ करनेकी ओर ही अग्रसर हो सकना सम्भव है। जो भी हो, अनुष्ठानोंका विशाल स्थायित्त्व तथा जीवनके आधारका महत्त्व, ये दोनों अवश्य ही उत्तमताके परिचायक नहीं हैं, वरं ये भारतीय बुद्धिकी असाधारण, राजनीतिक सहज-दृष्टि और शक्तिका ही परिचय देते हैं।

भारतीय राष्ट्र-तंत्रके समूचे गठन, विस्तार और पुनर्गठनके मूलमें स्थायी भावसे बराबर एक नीति विद्यमान थी। वह है, भीतरसे स्वनियंत्रित समष्टिगत (Communal) संघ-बद्ध जीवन-प्रणाली;—केवल सबके ऊपर अपना नियंत्रण नहीं, वोटके द्वारा वाह्य-प्रतिनिधि मूलक एक सभा गठित करके स्व-नियंत्रण नहीं; इस प्रकारकी सभा तो जातिके केवल एक भागकी, राजनीतिक चिन्ता-सम्पन्न व्यक्तियोंकी ही, प्रतिनिधि हो सकती है ; आधुनिक प्रणाली इसकी अपेक्षा और अधिक कुछ भी नहीं कर सकती ; किन्तु वह था जातिके जीवनके प्रत्येक स्फुरणमें एव प्रत्येक स्वतंत्र अंगमें स्व-नियंत्रण (Self-ditermination) स्वाधीन समन्वयशील समष्टिगत (Communal) विधान ही उसका स्वरूप था। उसका लक्ष्य व्यक्तिगत स्वाधीनताकी ओर उतना नहीं था, जितना समष्टिगत, सम्प्रदायगत स्वाधीनताकी ओर। पहले-पहलकी समस्या बहुत सरल थी। कारण, उस समय केवल दो तरहसे समष्टिगत मूल अनुष्ठानका हिसाब लेना पड़ता था—गाँव तथा कुल। गाँवका स्वाधीन स्वाभाविक जीवन स्व-नियंत्रण-शील ग्रामीण-समाजकी भित्तिके ऊपर स्थापित की गयी थी।

उसकी स्थापना ऐसी पूर्णताके साथ और मजबूतीके साथ की गयी थी कि, वह समयके तमाम अत्याचारों तथा अन्यान्य तंत्रोंके आक्रमणोंका प्रतिरोध या तिरस्कार करनेमें समर्थ होकर प्राय: हमलोगोंके समयतक मौजूद थी। वह अभी थोड़े दिन हुए ब्रिटिश नौकरशाही (Bureaucratic) के निर्मम और प्राण-हीन यांत्रिकताके भयंकर दबावसे कुचलकर लुप्त हुई है। गाँवके लोग थे प्रधानत: किसान। वे संघ-बद्ध थे। उनका वही एक ही संघ धार्मिक भी था, सामाजिक भी था, सामरिक और राष्ट्र-नीतिक भी था। अपनी समितिद्वारा ही वे अपना शासन-कार्य चलाते थे ; उनके ऊपर नेतृत्त्व करता था राजा ; उस समयतक सामाजिक कामोंका कोई स्पष्ट विभाग नहीं हुआ था और न कर्मानुसार श्रेणी-विभाग ही हुआ था।

किन्तु यह प्रणाली, केवल अत्यन्त सरल कृषि-जीवन, तथा अत्यल्प परिसर (नदी-पर्वतादिके निकटवर्त्ती) स्थानोंमें आबद्ध छोटे जन-समूहके अलावा और किसीके लिए उपयोगी नहीं था। यही कारण है कि अधिकतर जटिल समष्टित अनु-ष्ठानका विकाश करने तथा भारतीय मूलनीतिके प्रयोगको कुछ परिवर्त्तित और अपेक्षाकृत जटिल करनेकी समस्या वाध्य होकर उठ खड़ी हुई थी। आर्य-जातिकी सारी शाखाओंकी पहले-पहल जो जीविका थी खेती करना और पशु-पालन करना, वही जीविका बराबर श्रेयस्कर भिति-स्वरूप बनी रही ; किन्तु उस दीवारके ऊपर क्रमश: अधिकाधिक समृद्ध वाणिज्य, शिल्प और अन्याय असंख्य वृत्तियोंकी ऊँची अट्टालिका तैयार हो गयी। सामरिक, राष्ट्रनीतिक, धार्मिक और शिक्षा-दीक्षा विष-

यक वृत्तियोंको लेकर एक अपेक्षाकृत छोटा महल बन गया। बराबर ग्रामीण-समाज ही स्थायी मूल अनुष्ठान रहा, समाज-शरीरका अविनाशी परमाणु रहा; किन्तु दस-दस और सौ-सौ गाँवोंको लेकर एक प्रकारका समष्टि-जीवन बन गया। इस प्रकार प्रत्येक समष्टिके लिए आवश्यकता हुई अपने शासनतंत्रकी; फिर ज्यों-ज्यों युद्ध-विजय अथवा दूसरोंके मिलनेसे कुल और वंश बृहदाकार जातिमें परिणत होने लगे, त्यों-त्यों उन समष्टियों-को लेकर एक-एक राजतंत्र अथवा सम्मिलित प्रजातंत्र बनने लगा और उस राज्य या प्रजातंत्रको मंडल-स्वरूपमें ग्रहण करके विशाल राज्य बन गया। और अन्तमें इसी प्रकार बनते-बनते एक या एकसे अधिक महा साम्राज्य बन गये। यह जो क्रमशः बढ़नेवाला विकाश एवं अवस्थान्तरका आविर्भाव था, उसके साथ सामंजस्य रखकर भारतकी समष्टिगत स्व-नियंत्रित स्वाधीनताकी मूल नीतिका कहाँतक कृतकार्यताके साथ प्रयोग किया गया था, उसीसे भारतकी राष्ट्रनीतिक प्रतिभाकी असली परीक्षा होजाती है।

इस आवश्यकताके सिद्ध करनेके लिए ही भारतकी बुद्धिने सुदृढ़ चातुर्वर्ण्यका विकाश किया था। यह व्यवस्था धार्मिक भी थी और साथ-ही-साथ सामाजिक भी। ऊपरसे देखनेपर मन-में यह बात अवश्य पैदा हो सकती है कि किसी-न-किसी समय-में अधिकांश मानव-समाजने जो सुपरिचित समाज-विभागका विकाश किया था—जैसे, पुरोहित-सम्प्रदाय, योद्धा और राष्ट्र-नीतिक विद्वान-सम्प्रदाय, शिल्पी, स्वाधीन किसान और वैश्य-सम्प्रदाय तथा दास और श्रमजीवी-सम्प्रदाय—भारतका चातुर्वर्ण्य उसी प्रकारकी अपेक्षाकृत एक निश्चित व्यवस्थाके अतिरिक्त और

कुछ नहीं था। किन्तु यह समानता केवल बाहरकी है; भारतकी जो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था थी, उसका मूलगत सत्य बिलकुल भिन्न था। वैदिक युगके अन्तिम भागमें तथा परवर्त्ती रामायण-महाभारतके युगमें चातुर्वर्ण्य विभाग एक साथ ही तथा अविच्छिन्न भावसे समाजकी धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रनीतिक और अर्थनीतिक अवस्थासे सम्बद्ध था। उस अवस्था या समयमें प्रत्येक वर्णका एक अपना स्वाभाविक स्थान था; समाजके किसी भी प्रयोजनीय व्यापार और कर्ममें किसी भी वर्णका एकमात्र अधिकार नहीं था। इस विशेषताको ध्यानमें न रखनेसे चातुर्वर्ण्य व्यवस्था समझमें नहीं आ सकती। किन्तु परवर्त्ती कालका परिणाम देखने तथा खासकर अधःपतनके युगकी अवस्थासे जो भ्रान्त धारणाएँ पैदा हुई हैं, उनसे यह विशेषता ही पर्देमें पड़ गयी है। दृष्टान्त-स्वरूप कहा जा सकता है कि धर्मशास्त्रकी चर्चा किम्बा उच्चतम आध्यात्म ज्ञान और साधनाका सुयोग, इनमें कोई भी वस्तु केवल ब्राह्मणोंकी ही सम्पत्ति नहीं थी। सबसे पहले हम देखते हैं, अध्यात्म-विषयमें नेतृत्व लेकर ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें गहरी प्रतियोगिता चलती है तथा क्षत्रियलोग बहुत दिनोंतक पंडित और याजक (याज्ञिक) सम्प्रदायके विरुद्ध-अपनी प्रवृत्ति कायम रखनेमें समर्थ हुए हैं। फिर भी ब्राह्मणलोग स्मार्त्त, शिक्षक, पुरोहितके रूपमे अपना सारा समय और समूची शक्ति दर्शन-चर्चा, विद्या-चर्चा और शास्त्र-चर्चामें देते रहनेके कारण अन्तमें वे ही विजयी होते हैं और अपनी प्रधानता जमा लेते हैं। इस प्रकार पुरोहित और पंडित-सम्प्रदाय ही धर्मके विषयमें प्रामाणिक व्यक्ति, शास्त्रका रक्षक, विधि-

विधान और शास्त्रोंका व्याख्याता, सब विद्याओंके क्षेत्रमें शिक्षक तथा साधारणतः अन्यान्य श्रेणीका धर्म-गुरु था। उन्हींमें देशके अधिकांश (सब कभी भी नहीं) दार्शनिक, पंडित, साहित्यिक और विद्वान व्यक्तियोंका आविर्भाव होता है। वेदों और उपनिषदोंका अध्ययन खासकर उन्हींके हाथमें चला जाता है—यद्यपि उच्च तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए सदा उसका द्वार खुला हुआ था—केवल शूद्रोंके लिए नियमानुसार उसका निषेध था। किन्तु यथार्थतः अत्यधिक धर्मान्दोलनके फलसे उसके बादके युगमें प्राचीन युगकी वह स्वाधीनता कायम हो गयी थी; उस धर्मान्दोलनके प्रभावसे ऊँचेसे-ऊँचा अध्यात्म-ज्ञान और साधनाका सुयोग लोगोंके घर-घर पहुँच गया था, तथा जिस प्रकार हम आदिकालमें देख पाते हैं कि वैदिक और वैदान्तिक ऋषियोंका जन्म सब श्रेणीमें हुआ है, उसी प्रकार शेषतक, समाजकी सब अवस्थाओं, निम्नतम शूद्रोंमें, यहाँतक कि घृणित और पददलित अस्पृश्योंमें भी योगी, ऋषि, अध्यात्म-चिन्ता-सम्पन्न व्यक्ति, धर्म-संस्कारक, धार्मिक, कवि और गायकोंका आविर्भाव हुआ है, तथा वे शास्त्र और विद्याके अधिकारी न होते हुए भी वे ही आध्यात्मिकता और ज्ञानके असली पुत्र हैं, इसमें सन्देह नहीं।

चारों वर्णोंसे समयानुसार दृढ़-बद्ध उच्च-नीच सामाजिक श्रेणी-विभागका आविर्भाव हुआ है; किन्तु पतितोंके बाद दे देनेपर, प्रत्येक श्रेणीका ही एक विशेष प्रकारका अध्यात्म-जीवन और उपयोगिता थी, विशेष प्रकारकी सामाजिक मर्यादा थी, विशिष्ट शिक्षा-दीक्षा थी, सामाजिक और नैतिक धर्मका

विशिष्ट आदर्श एवं समाजमें निर्दिष्ट स्थान, कर्तव्य और अधिकार था। इसी व्यवस्थाके द्वारा अपने-आप ही निर्दिष्ट कर्म-विभाग हुआ था और अपने-आप ही निश्चित अर्थनीतिक समावेष हुआ था। पहले वंशानुक्रम नीति ही पैदा हुई होती, यद्यपि इस क्षेत्रमें भी नियममें जितनी कड़ाई थी, उतनी कड़ाई कार्यमे नहीं थी; किन्तु प्रचुर धन पैदा करने तथा अपनी-अपनी श्रेणीमें प्रभाव पैदा करनेकी प्रवृत्तिके फलसे समाज, शासन-विभाग और राष्ट्र नीतिके क्षेत्रमें प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके सुयोग और अधिकारसे कोई भी वंचित नहीं था। कारण, और भी अधिक लक्ष्य करनेका विषय यह है कि समाजका यह ऊँचा-नीचा श्रेणी-विभाग होनेपर भी उसके साथ राजनीतिके क्षेत्रमें वह विभाग नहीं था। राजनीतिक अधिकारमें चारो वर्णोंका अपना-अपना अंश था। साधारण समितियो और शासन-विभागमे सबके लिए स्थान था तथा सबका प्रभाव था। यहाँ और भी एक बातका उल्लेख किया जा सकता है कि कानूनकी दृष्टिमें तथा अन्ततः थ्योरी (theory) या मतवादमें भारतकी स्त्रियाँ अन्यान्य प्राचीन जातियोंके समान राजनीतिक अधिकारोसे वंचित नहीं थीं; यद्यपि स्त्रियाँ समाजमें पुरुषोंके अधीन थीं तथा घरेलू काम-काजमे वे एकदम व्यस्त रहती थीं, इसलिए यह समानता केवल इनी-गिनी स्त्रियोंको छोड़कर बाकी सब स्त्रियोंके लिए व्यर्थसा था; तथापि आज जो प्रमाण-पत्र पाये जाते हैं, उनमें ऐसे दृष्टान्तोंका अभाव नही है कि स्त्रियोंने केवल रानी और शासन-कर्त्रीके रूपमें, यहाँतक कि युद्ध-क्षेत्रमें ही (भारतके इतिहासमें यह साधारण घटना है) ख्याति नहीं पायी थी, बल्कि

वे राजनीतिक सभा-समितियोंमें भी निर्वाचित प्रतिनिधिके रूपमें यथेष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त करनेमें समर्थ हुई थीं।

भारतकी समूची राष्ट्र-व्यवस्थाकी जड़में था सभी श्रेणीके जातीय जीवनमें अन्तरंग भावसे अंश-ग्रहण। प्रत्येक श्रेणी अपने-अपने क्षेत्रमें प्रधानता रखती थी। धर्म और विद्याके क्षेत्रमे ब्राह्मणोंकी प्रधानता थी, युद्ध और राज-कार्य तथा अन्यान्य राज्योंके साथ राष्ट्रनीतिक कामोंके क्षेत्रमें क्षत्रियोंकी प्रधानता थी, धन पैदा करने और अर्थनीतिक उत्पादनके क्षेत्रमें वैश्योंकी प्रधानता थी। किन्तु कोई भी—यहाँतक कि, शूद्र भी राजनीतिक जीवनमें अपने-अपने अधिकारोंसे वंचित नहीं थे। राष्ट्रनीति, शासन और विचारके काममें सबकी बात चलती थी, सबका स्थान था—प्रभाव था। इसका परिणाम यह हुआ था कि, अन्यान्य देशोंमें जिस प्रकार श्रेणी-विशेषने चिरकालतक प्रबल भावसे अन्यान्य श्रेणियोंके ऊपर एकाधिपत्य किया है, भारतकी राष्ट्रनीतिक व्यवस्थामे उस तरह किसी श्रेणी-विशेषका एकाधिपत्य, अत्यन्त अधिक दिनोंके लिए खड़ा नहीं हो सका। तिब्बतके समान याजक सम्प्रदायद्वारा राष्ट्रशासन, अथवा फ्रांस, इंगलैंड और यूरोपके अन्यान्य देशोंमे भू-स्वामियों और सामरिक अभिजात-श्रेणीका जो शासन शताब्दोंसे चला आया है, अथवा प्राचीन कार्थेज और वेनिसमें अल्प-संख्यक वैश्योंका जो शासन प्रचलित था, वैसा शासनतंत्र भारतीय प्रकृतिके विरुद्ध था। गोष्ठी, कुल और वंश जिस समय वृहद् जाति और राज्यमें परिणत हो रहे थे, तथा आधिपत्यके लिए आपसमें संग्राम करनेकी ओर इनकी प्रवृत्ति थी, उस देश व्यापी युद्ध, द्वन्द्व और आत्म-विस्तार-

के समय बड़े-बड़े क्षत्रिय-वंश राष्ट्रनीतिक क्षेत्रमें जो बहुत-कुछ प्रधानता प्राप्त कर लेते थे—महाभारतमें वर्णित इतिहासमें उसका संकेत नहीं पाया जाता। मध्ययुगमें राजपूतानेमे फिर कुल-प्रथाका आविर्भाव होनेपर कुछ-कुछ उसी प्रकार क्षत्रियोंकी प्रधानताका अभिनय हुआ था; किन्तु प्राचीन भारतमें यह केवल अवस्थामात्र थी। नहीं तो इस प्रकार क्षत्रिय-प्रधानताके दारुण राष्ट्रनीतिक और नागरिक मामलोंमें अन्यान्य श्रेणियोंका प्रभाव नष्ट नहीं हुआ होता, अथवा भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक (Communal) मूल अनुष्ठानके स्वतंत्र जीवनमें किसी तरहका नाशकारी अत्याचार या हस्तक्षेप न किया गया होता।

देशके सबलोग साधारण समितियोंके कार्योंमें योग देते थे, यह पुरानी नीति थी। मध्ययुगके साधारण नीतिज्ञ रिपब्लिक- (Republics) में भी यह नीति अक्षुण्ण रखनेकी चेष्टा की जाती थी, ऐसा जान पड़ता है। वह ग्रीस देशके पुराने साधारणतंत्रके समान नहीं था। ग्रीकोंका साधारणतंत्र था मुख्यतंत्र रिपब्लिक (Oligarchical republics); साधारण समितियोंमें सर्वसाधारणको योगदानका अधिकार नहीं था; वहाँ हर श्रेणीके मुख्य और मान्य व्यक्तियोंको लेकर गठित क्षुद्र सिनेट (Senate) ही देशका शासन करता था; भारतमें परवर्त्ती कालकी राजकीय परिषद् और समिति भी ऐसी ही थी। जो हो, अन्ततक जो राष्ट्रके रूपका विकाश हुआ था, उसमें किसी श्रेणीको अनुचित प्रधानता नही दी गयी थी। यही कारण है कि प्राचीन ग्रीस और रोम या परवर्त्ती यूरोपकी भाँति श्रेणीके साथ श्रेणीका द्वन्द्व भारतके इतिहासमे दिखलायी नहीं पड़ता।

प्राचीन ग्रीस और रोममें सम्भ्रान्त श्रेणीके साथ साधारणके, मुख्यतंत्र आदर्शके साथ साधारणतंत्र आदर्शके द्वन्द्वके फलसे अन्तमें एकाधिपत्यशाली राजतंत्रकी प्रतिष्ठा हुई। परवर्त्ती यूरोप-के इतिहासमें भी देखा जाती है कि, श्रेणियोंके द्वन्द्के फल-से भिन्न-भिन्न प्रकारके शासन तंत्रोंने प्रतिष्ठा प्राप्त की है। पहले कुलीन श्रेणीने आधिपत्य किया है ; बाद कहीं-कहीं तो धीरे-धीरे, कहीं-कहीं विल्पवके द्वारा धनी और व्यवसायी सम्प्र-दायने प्रधानता प्राप्त की है ; इसी शासनने समाजको शिल्पतांत्रिक (Industiialisad) बनाया है तथा जन-साधारणके नामसे देश-का शासन और शोषण किया है। अन्तमे इस समय देखा जा रहा है कि श्रमिक-श्रेणी आधिपत्य लाभ करनेका उद्योग कर रही है। इस प्रकार श्रेणीके साथ श्रेणीका द्वन्द्व भारतके इति-हासमें नहीं पाया जाता। भारतकी मनोवृत्ति और प्रकृति पश्चिमी देशोंकी मनोवृत्ति और प्रकृतिकी तुलनामें अधिकतर समन्वय-शील और स्तुत्य है; पाश्चात्यकी भाँति तर्कबुद्धिको न पकड़े रहकर अथवा केवल प्राणके आवेगमें काम न करके उसने सहज-बोध और सहज-अनुभूतिका ही विशेष अनुसरण किया है। यही कारण है कि यद्यपि वह समाज और राष्ट्रकी आदर्श व्यवस्था करनेमे समर्थ नहीं हो सका, तथापि वह देशकी सब स्वाभाविक शक्ति और श्रेणीको एक ऐसे निपुण और स्थायी समन्वयमें पहुँच-सका था, जो हमेशा सशंक भावसे साम्य अथवा सामयिक आपोषमात्र नहीं था। उस प्राणवान और सुव्यवस्थित क्रमशः समावेशमें समाज-शरीरका प्रत्येक अंग स्वतंत्रता पूर्वक अपना-अपना कर्म कर सकता एवं इसीसे वह मनुष्यकी सारी सृष्टिकी

ही काल-क्रमसे जो अवनति अवश्यम्भावी है, उसे न रोक सकते हुए भी, भीतरसे विप्लव और विशृंखलाकी सम्भावनाका निवारण करनेमें समर्थ हुआ था।

राष्ट्रका शासन-विषयक शीर्ष स्थान ग्रहण किया था—मंत्रणा परिषद्‌के राजाने, पौर-समितिने और साधारण जानपद-समितिने। देशके सब श्रेणीके लोगोंमेंसे परिषद्‌के सभासद् और मंत्री लिये जाते थे। परिषद्‌में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रोंके प्रतिनिधियोंकी निर्दिष्ट संख्या थी। संख्याके हिसाबसे वैश्योंकी ही प्रधानता थी; किन्तु यही न्याय व्यवहार था; कारण, देशमें उन्हींकी संख्या अधिक थी। कारण यह था कि आर्य-समाजकी प्रथमावस्थामे वैश्य-श्रेणीमें केवल वणिक और व्यव-सायीलोग ही नहीं गिने जाते थे बल्कि कारीगर, शिल्पी और किसान भी वैश्य-श्रेणीके ही अन्तर्गत समझे जाते थे। इसलिए देश-निवासियोंमें अधिकांश वैश्य ही थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, और शूद्र श्रेणीका विकाश उसके बाद हुआ था; तथा ऊपरकी दो श्रेणी-का सम्मान और प्रभाव जितना भी अधिक रहा हो, संख्यामें इन तीनों श्रेणियोंके लोग बिलकुल कम थे। बाद जब बौद्ध-धर्मके प्रादुर्भावसे विशृंखलाकी सृष्टि हुई तथा संस्कृति (Culture) की अवनतिके युगमे ब्राह्मणोंने समाजको फिरसे गठित किया, तब भारतके अधिकांश स्थानोंमें कृषक, शिल्पी और छोटे व्यापा-रियोंमें शूद्र अधिक हो गये; उच्च स्थानपर हुआ अल्प संख्यक ब्राह्मणोका दल तथा मध्य-स्थलमें बहुतसे क्षत्रिय और वैश्य रहे।

इस प्रकार परिषद् समूचे समाजकी प्रतिनिधि होकर राष्ट्र-के बीच उत्तमतासे कार्यका निर्वाह करती और शासनमें भाग

लेती थी। शासन-कार्य, अर्थनीति, कूटनीतिके विषयमें आवश्यकीय मामलोंमें, समाजके स्वार्थोंके मामलेमें, राजा जिस काम या आदेशका ऐलान करना चाहता था, उसके लिए उसे परिषद्की सम्मति और सहयोगिता ग्रहण करनी पड़ती थी। राजा, मंत्रीलोग और परिषदके सदस्य, ये ही भिन्न-भिन्न कामोंके बोर्डोंकी सहायतासे रियासत-(स्टेट) के कामोंकी देख-रेख और उसका नियंत्रण करते थे। इसमें सन्देह नही कि समयानुसार राजाकी शक्ति बढ़ जाती थी। समय-समयपर उसे अपनी स्वतंत्र इच्छा और प्रेरणाके अनुसार काम करनेकी उत्कट इच्छा होती थी; किन्तु ऐसा होते हुए भी जबतक यह राष्ट्र-व्यवस्था तेजपूर्ण थी, तबतक राजा परिषद्के सदस्यों और मंत्रियोंके मत और इच्छाको अमान्य या अग्राह्य करके छुट्टी नहीं पा लेता था। यहाँतक कि महा सम्राट् अशोक-सरीखे शक्तिशाली और दृढ़प्रतिज्ञ राजाको भी परिषद्के साथ द्वन्द्वमें पराजित होना पड़ा था तथा ऐसा जान पड़ता है कि कार्यतः उन्हें अपनी योग्यता त्याग करनेके लिए वाध्य होना पड़ा था। परिषद्के सहित मंत्रीलोग अयोग्य राजाको राजसिंहासनसे हटाकर उसके स्थानपर उसके वंशके अथवा नये किसी वंशके दूसरे आदमीको बैठा सकते थे। ऐसा बहुत बार हुआ भी है। इस प्रकारका कई इतिहास-प्रसिद्ध परिवर्त्तन हुआ था; जैसे—मौर्यवंशके स्थानपर सुंगवंश बैठाया गया, फिर कानोवा सम्राट्-वंशकी सूचना। राष्ट्रनीतिक मतवाद्के अनुसार तथा सचराचर व्यवहारमें भी राजाका सभी काम था मंत्रियोंकी सहायतासे सपरिषद् राजाका काम। उसके मतका अनुयायी होने तथा धर्मानुसार जिस कामका भार

राजाको सौंपा जाता था, उस कामका सहायक होनेपर ही राजाके व्यक्तिगत सब काम वैध समझे जाते थे। जिस प्रकार परिषद् शक्तिरूप, कर्म-केन्द्र, चारो वर्णोंकी प्रतिनिधि, समाज-शरीरके सब प्रधान अंशोंका सार-संग्रह थी, उसी प्रकार राजा भी शक्ति-केन्द्रका सक्रिय-मस्तक स्वरूप होनेके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। स्वेच्छाचार-तंत्रके समान वही राज्य या वही देश-का मालिक अथवा अनुगत प्रजाके ऊपर दायित्त्वहीन शासन-कर्त्ता नहीं हो सकता था। कानून और धर्मके अधीन प्रजा थी। वह सपरिषद् राजाके आदेशोंका केवल इसीलिए पालन करती थी कि वह सब धर्मका प्रयोग और संरक्षणका उपाय-स्वरूप था।

फिर भी यदि एकमात्र परिषद्के हाथमें ही शासन-विषयक सारी बातें होतीं, तो राजा अपने मंत्रियोंके अत्यन्त निकट प्रभावके अधीन रहनेके कारण क्रमशः स्वेच्छाचारी शासनके यंत्रमें पिस जाता। किन्तु राज्यमें दो और शक्तिशाली बातें थीं। वे थीं और भी विस्तृत रूपसे समाज-जीवनकी प्रतिनिधि। प्रत्यक्ष राजकीय प्रभावसे मुक्त होनेसे वे और भी निकट और अन्तरंग भावसे समाजके मन, प्राण और इच्छाका प्रकाश करतीं, सर्वदा अधिक परिमाणमें शासनकार्य चलातीं और शासन-विषयक कानून बनातीं तथा हर समय राजशक्तिको संयत रखनेमें समर्थ होती थीं। कारण, यदि वह शक्ति असन्तुष्ट होती थी तो अप्रिय या अत्याचारी राजाको दूर कर सकती थी। अथवा जबतक वह प्रजाके सामने सिर नहीं झुकाता था, तबतक वह शासन-कार्यको असम्भव किये रहती थी। वह महान शक्ति थी पौर समिति और जानपद-समिति। ये दोनों समितियाँ अपने-अपने

स्वतंत्र कामके लिए स्वतंत्र रूपसे बैठती थीं और सर्वसाधारणके स्वार्थ-विषयक मामलेमें दोनों एकत्र बैठती थीं। * पौर-समिति राज्य या साम्राज्यकी राजधानीमें ही सदा बैठती थी,—साम्राज्य व्यवस्थाके अधीन प्रदेशोंकी प्रधान नगरीमें भी इस प्रकारकी अपेक्षाकृत छोटी समितिके अधिवेशन होनेका आभास पाया जाता है। नगरके शिल्प और व्यवसाय-सम्बन्धी संघों या वृत्ति-संघों (City Guilds) तथा समाजकी सब श्रेणियों—अन्ततः नीचेकी तीन श्रेणियोंके अन्तर्गत भिन्न-भिन्न जाति-संघों (Caste bodies) के निर्वाचित प्रतिनिधियोंको लेकर इस प्रकार पौर-समिति बनती थी। नगरमे और देशमें सब जगह वृत्ति-संघ-(guilds) और जाति-संघ (caste bodies) के समाज शरीरका सजीव स्वायत्तशासनशील अंग था; और नागरिकोंकी जो श्रेष्ठ समिति थी, वह कृत्रिम भावसे प्रतिनिधिमूलक नहीं थी, बल्कि वह थी नगरकी चारो सीमाके अन्तर्गत समूचे जीवन-धारा-की वास्तविक प्रतिनिधि। वह नगरके समूचे जीवनको नियंत्रित करती थी, कभी तो साक्षात् रूपसे स्वयंही काम करती थी और कभी अपने अधीन पाँच, दश अथवा अधिक संख्यक सदस्योंद्वारा अपेक्षाकृत छोटी अनेक समितियों या कार्य-निर्वाहक बोर्डोंका गठन करके उन्हींके भीतरसे काम करती थी; उसका कानून और आदेश सब वृत्ति-संघों (guilds) को मानकर चलना

---

* इस सम्बन्धमे तथ्य बात मि० जायसवाल (Mr. Jayaswal) के ज्ञानगर्भ और विशेष सतर्कताके साथ प्रमाणयुक्त ग्रंथसे ली गयी है; हमारी वर्त्तमान आलोचनामे जो बात प्रासंगिक थी केवल वही बात चुनकर हमने यहाँ ले ली है।

पड़ता था, और साक्षात् रूपसे भी वह नागरिक समाजके व्यवसाय, शिल्प, अर्थनीति, स्वास्थ्य-विषयक व्यापारोंको चलाती थी। इसके अतिरिक्त यह समिति इतनी शक्तिशालिनी थी कि राज्यके बड़े-बड़े मामलोंमें भी उसका परामर्श ग्रहण करना पड़ता था, एवं इन सब मामलोंमें वह कभी तो जानपद-समितिके सहयोगसे और कभी अकेले स्वयं ही कर्ममार्गका अवलम्बन कर सकती थी; और वह सदा राजधानीमें वर्तमान रहकर काम करनेसे इस प्रकार योग्यतासे पूर्ण हो उठी थी कि राजाको, उसके मंत्रियोंको और उसकी परिषद्‌को हमेशा उसे मानकर ही चलना पड़ता था। राजाके मंत्रियों और शासनकर्त्ताओंके साथ द्वन्द्व उपस्थित होनेपर दूरवर्त्ती प्रादेशिक पौर-समितियाँ भी अपना असन्तोष कार्योंद्वारा प्रकट कर सकती थी, उनकी मर्यादा या उनके अधिकारोंमें हस्तक्षेप किया जानेपर समुचित उत्तर दे सकती थीं, एवं अपराधी कर्मचारियोंको हटा देनेके लिए बाध्य कर सकती थीं।

जानपद-समिति भी इसी प्रकार राजधानीके बाहर समूचे देशके मन और इच्छाकी वास्तविक प्रतिनिधि थी। कारण, वह नगर और गाँवके निर्वाचित नेताओं या प्रधान व्यक्तियोंको लेकर गठित थी। जान पड़ता है, इसके गठनमें धनिकोंका बहुत-कुछ प्रभावाधिक्य हो गया था; कारण, अधीनस्थ सम्प्रदायोंके प्रधानतः धनीलोग ही इसमें प्रतिनिधि होकर आते थे, इसलिए यह जानपद-समिति पूर्ण रीतिसे साधारण-तांत्रिक नहीं थी। यद्यपि अत्यन्त आधुनिक समितियोंको छोड़कर सब जगह क्षत्रियों, वैश्योंके समान ही शूद्र भी स्थान पाते थे, तथापि वह

यथेष्ट भावसे जनसाधारणका प्रकृत जीवन और मनोभाव प्रकट करती थी। जो हो, यह श्रेष्ठ व्यवस्थापक समिति नहीं थी; कारण, राजा, राजपरिषद् और पौर-समितिके समान ही इसे भी मूल कानून बनानेका कोई अधिकार नहीं था—यह केवल व्यावहारिक विधान और मीमांसा कर सकती थी। इसका कार्य था जातीय जीवनकी विभिन्न कर्म-परम्परामें सामंजस्य-साधनसे देशवासियोंकी इच्छाका साक्षात् यंत्र होना, यह सब जिससे यथार्थ भावसे परिचलित हो सके उसकी ओर दृष्टि रखना, देशके वाणिज्य, शिल्प, कृषि, समाज और राष्ट्र-जीवनमें साधारण रीतिसे श्रृंखला और कल्याण-विधान करना, एवं उसी उद्देश्यसे व्यावहारिक विधान और आज्ञाका प्रचार करना, राजा और उसकी परिषद्से सुविधा और अधिकार प्राप्त करना, राजाके काममें प्रजाकी सम्मति प्रकट करना या प्रत्याहार करना तथा जरूरत पड़नेपर राजाको कार्यतः बाधा देना, बुरे शासनको रोकना, अथवा देशके प्रतिनिधियोंके लिए जो मार्ग खुले रहते थे उनके द्वारा इस प्रकारके शासनका अन्त करना। किसके बाद कौन राजा होगा, इस विषयमें पौर जानपदके संयुक्त अधिवेशनमें परामर्श किया जाता था। इस तरहका संयुक्त अधिवेशन राजाको सिंहासनसे च्युत कर सकता था, जो वंश राज्य करता रहता था उसके बाहर अन्य व्यक्तिको राज्य-सिंहासनपर बैठा सकता था, राजनीतिक मुकद्मोंमें देश द्रोहितामें या विचारमें भूल होनेपर कभी-कभी देशके ऊँचेसे-ऊँचे विचारालयके रूपमें विचार-कार्य कर सकता था। राष्ट्रनीतिक मामलोंमें राजकीय मन्तव्य इसी समितिमें पेश किया जाता

था ; विशेष टैक्स (कर) लगाने, युद्ध, यज्ञ, जल-सिंचनके वृहत् व्यापार तथा देशके अन्यान्य अत्यावश्यक मामलोंमें इस समितिकी राय लेनी पड़ती थी। मालूम होता है कि इन दोनों समितियोंका अधिवेशन अनवरत होता रहता था। कारण, सदैव राजाके पाससे बहुतसे विषय इनके सामने उपस्थित होते थे, उनके कामोंकी राजा रजिस्टरी कर लेता था, अमन ही इनके कानून रूपमें बलवान होता था। वस्तुतः इनके अधिकारों और कार्य-परम्पराको अच्छी तरह देखनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि राजाके आधिपत्यमें ये समितियाँ अंशीदार थीं, शासन-व्यापारमे इनका अधिकार स्वतः सिद्ध था, एवं जिन शक्तियोंका प्रयोग साधारणतः इनके कार्यके अन्तर्गत नहीं था, असाधारण प्रयोजनके समय ये उन सब शक्तियोंका प्रयोग कर सकती थीं। यह बात विशेष विचारणीय है कि सम्राट अशोकने जिस समय देशके धर्मका परिवर्तन करनेकी चेष्टा की थी, उस समय वह केवल राजाज्ञाद्वारा ही उसमें प्रवृत्त नहीं हुए थे बल्कि उन्होने समितिके साथ परामर्श किया था। अतएव प्राचीकालमें इन दोनों समितियोंको जो यह समझा जाता था, कि ये राज्यका काम चलानेवाली तथा आवश्यकतानुसार राज-शासनमे वाधा देनेवाली हैं, वह बिलकुल सही प्रतीत होता है।

ये महान अनुष्ठान कब लुप्त हुए ? मुसलमानोंके आक्रमणके पहले, या विदेशी शासनके फलसे, यह ठीक-ठीक नहीं जाना जाता। भारतीय राष्ट्रका जैसा गठन था, उससे यदि यह ऐसे किसी भावसे ऊपरकी ओर शिथिल हो जाता, जिसके फलसे राजाका शासन और समाज-राष्ट्र-शरीरके अन्यान्य

अनुष्ठानोंमें संयोग विछिन्न हो जाता, एवं राजा इस प्रकार विच्छिन्न होकर और जातिके विशाल व्यापारोंमें अबाध आधिपत्य प्राप्त करके क्रमशः अधिकाधिक स्वेच्छाचारी हो जाता एवं अन्यान्य अनुष्ठान केवल अपने भीतरी मामलोंको लेकर व्यस्त रहते (जैसा कि ग्राम-संघोंका हाल था), किन्तु राष्ट्रके बड़े व्यापारोंके साथ किसी प्रकारका सजीव सम्बन्ध न रखते तो इससे राष्ट्र बहुत दुर्बल हो जाता ; कारण, इस मिश्रित साम्प्रदायिक (Communal) स्वायत्त-शासन-मूलक राष्ट्र-व्यवस्थामें सब अंशोंका संयोग और समन्वय नितान्त आवश्यक था। जो हो, मध्य-एशियासे जो आक्रमण भारतके ऊपर हुआ और उसके साथ ही ऐसे व्यक्तिगत स्वेच्छाचारिता-मूलक शासनकी रीति आ गयी जो किसी प्रकार बाधा डालनेसे बिलकुल ही रुक नहीं सकती थी, वह इन अनुष्ठानोंको या उनके अवशेषको साथ-ही-साथ ध्वंस कर डालनेवाली थी, इसमें कोई सन्देह नहीं ; वस्तुतः समूचे उत्तर-भारतमें यही घटा भी था। उसके बाद कई शताब्दसे दक्षिण-देशमें भारतीय राष्ट्र-व्यवस्थाकी रक्षा होती आयी थी, किन्तु वहाँ जो साधारण समितियाँ मौजूद रहीं, प्राचीन राष्ट्रीय अनुष्ठानोंके समान उनका गठन था—ऐसा नहीं प्रतीत होता। परन्तु प्राचीन अनुष्ठान साम्प्रदायिक (Communal) संघ और समितिको आपसमें मिलाकर ऊपरी शक्तिके रूपमें उन्हें नियंत्रित करता था, दक्खिन-देशकी साधारण समितियाँ निम्नश्रेणीके अनुष्ठानके समान थीं। इस निम्न-अनुष्ठानमे कुल और जनताका समावेश था ; पहले इनका राजनीतिक स्वरूप था, प्राचीन कुल-प्रथा-मूलक जातिकी ये ही ऊँची शासन समि-

तियाँ थीं। नवीन व्यवस्थामें वे मौजूद थीं, किन्तु उनका ऊँचा अधिकार नहीं रह गया था। वे केवल मामूली शक्तिसे सीमाबद्ध भावसे अपने अन्तर्गत सम्प्रदायोंके कार्यकी परम्पराका निर्वाह कर सकती थीं। कुल अपनी राजनीतिक योग्यता खो देनेके बाद भी धर्म और समाज-विषयक अनुष्ठानके रूपमें मौजूद था; खासकर क्षत्रियोंमें निजी कुल-धर्म (सामाजिक और धार्मिक रीति-नीति) तथा किसी-किसी क्षेत्रमें कुल-संघ भी (साम्प्रदायिक समिति) सुरक्षित था। दक्खिन-भारतमें साधारण समितियोंने उस समयतक प्राचीन साधारण-समितियोंके स्थानपर अधिकार कर लिया था, उनमें कितनी तो पास-ही-पास रहकर कभी एकत्र और कभी स्वतंत्र रूपसे काम करती थीं; वह सब इस प्रकारके अनुष्ठानोंका ही प्रकार-भेद था। राजपूतानेमें भी कुलने अपने राजनीतिक स्वरूप और शक्तिका पुनरुद्धार किया था, किन्तु दूसरे ढंगसे; प्राचीन अनुष्ठान तथा उनका परिमार्जित व्यवहार फिर लौटकर नहीं आया, यद्यपि वह बहुत अंशोंमें क्षत्रिय-धर्मोचित साहस, सौजन्य, उदारता और मर्यादा-ज्ञानकी रक्षा करनेमें समर्थ हुआ था।

भारतीय कम्युनल व्यवस्थामें एक और अधिक स्थिति-शक्ति-सम्पन्न वस्तु थी, वह प्राचीन चातुर्वर्ण्यकी अवस्थासे पैदा हुई थी; यहाँतक कि अन्ततक उसने चातुर्वर्ण्यका ही स्थान अधिकृत करके असाधारण जीवनी शक्ति और प्रभावशील प्रधानता प्राप्त की थी। वह वस्तु है इतिहास-प्रसिद्ध जाति-भेद-प्रथा। आज उसकी अवस्था मृतप्राय हो चली है, फिर भी वह हटना नहीं चाह रही है। अनेक शक्तियोंके दबावसे पुराने चार

वर्णोंमें बहुतसे विभाग हो गये। शुरूमें इन्हीं विभागोंसे ही जाति-भेद पैदा हुआ था। उसका प्रधान कारण था धर्म, समाज और आचार-अनुष्ठान-सम्बन्धी भिन्न-भिन्न रीति-नीति; किन्तु स्थान-भेद और देश-भेदके कारण भी बहुतसा श्रेणी-भेद हुआ था। क्षत्रियोंकी बहुधा एक ही श्रेणी थी, यद्यपि वे भिन्न-भिन्न कुलोंमें विभक्त थे। दूसरी ओर वैश्य और शूद्रगण, अर्थनीतिक कर्म-विभागके प्रयोजनवश वंशानुक्रम नीतिके अनुसार असंख्य जातियोंमें विभक्त हो गये थे। भारतमें क्रमशः बहुत तेजीसे वंशानुक्रमनीति पैदा हुई थी, नहीं तो इस प्रकार स्थायी भावसे अर्थनीतिक कर्म-विभाग अन्यान्य देशोंके समान वृत्ति-संघ (guild) बनाकर सुसम्पन्न हो सकता था। वस्तुतः सब नगरोंमें हम शक्तिशाली और दक्ष गिल्ड (वृत्ति-संघ) प्रथाका* अस्तित्व देख पाते हैं। किन्तु समयके फेरसे यह प्रथा अव्यवहार्य हो गयी और अधिकतर व्यापक जातिभेद-प्रथा ही सब जगह अर्थनीतिक कर्म-विभागकी एकमात्र दीवार बनकर खड़ी हो गयी। नगरों और गाँवोंमें स्वतंत्र साम्प्रदायिक (Communal) मूल अनुष्ठानको ही जातिका रूप मिला था। वही एक साथ ही धर्म था समाज था और अर्थनीति-विषयक संघ था; अपने धार्मिक, सामाजिक और अन्यान्य प्रश्नोंकी मीमांसा जाति स्वयं ही करती थी; अपने अन्तर्गत लोगोंपर आधिपत्य भी वह स्वयं ही करती

---

* गिल्ड (Guild) कहनेसे भिन्न-भिन्न प्रकारके शिल्पियों और व्यवसायियोंके संघका बोध होता था। प्राचीन भारतमें उन्हें "श्रेणी" या "पूग" कहा जाता था। नगरके गिल्ड-समूहको साधारणतया "नैगम" कहा जाता था।

थी, इसमें और कोई बाहरी आदमी किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। केवल धर्मके मूलतत्व-सम्बन्धी प्रश्नोंके समाधानमें शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंकी व्याख्या और विधान ही प्रामाणिक समझकर स्वीकार किये जाते थे। जिस प्रकार कुलको उसी प्रकार प्रत्येक जातिकी भी जाति धर्म अर्थात् जीवन-यात्रा और आचार-व्यवहारके सम्बन्धमें अपनी-अपनी विशेष प्रकारकी रीति-नीति थी और जातिके कम्युनल या समष्टिगत-जीवनकी मुखपात्र स्वरूप जातीय-समिति थी या जाति-संघ था। भारतीय राष्ट्र-व्यवस्था उसकी सब अनुष्ठानोंमें ही समष्टिगत (Communal) भित्तिके ऊपर स्थित थी, व्यष्टिगत भित्तिके ऊपर नहीं। इसी वजहसे राज्यके राष्ट्रनीतिक और शासन-सम्बन्धी मामलोंमें जातिकी भी गणना की जाती थी। वृत्ति-संघ (Guilds) भी व्यवसाय और शिल्प-विषयक मूल समष्टिगत (Communal) अनुष्ठानके रूपमें उसी प्रकार स्वाधीनता पूर्वक काम करते थे, उनके कार्य-निर्वाह और आलोचनके लिए सभामें एकत्र होते थे; और फिर उनकी सम्मिलित सभा भी थी। जान पड़ता है कि वे मिलित सभाएँ ही एक समयमें नगरकी शासक समितिके रूपमें काम करती थीं। शासनके कामोंका निर्वाह करनेवाला यह संघ (Guild) (यह केवल म्युनिस्पैलिटी नहीं था) समयानुसार अधिकतर व्यापक नागरिक समितिके रूपमें परिणत हो गया था। यह अन्तिम समिति नगरके सब गिल्डों और सब वर्णोंके अन्तर्गत जाति-संघकी मिलित प्रतिनिधि थी। अवश्य ही जातियाँ जातिके हिसाबसे राज्यकी साधारण समितिमें साक्षात् रूपसे प्रतिनिधि नहीं भेज

सकती थी, किन्तु स्थानीय व्यापारोंके कार्य-निर्वाहमें उनका निजी अधिकार था।

ग्राम-संघ और नगर-संघ, ये दोनों ही थे समूचे राष्ट्-प्रतिष्ठानकी सर्वापेक्षा सुस्पष्ट स्थायी भित्ति, किन्तु ध्यान रखना होगा कि, ये केवल स्थान भागमात्र नहीं थे, अथवा प्रतिनिधि निर्वाचन, शासन-कार्य-निर्वाह या अन्यान्य सामाजिक और राष्ट्र-नीतिक उद्देश्योंके साधनके सुविधाजनक यंत्रमात्र नहीं थे, बल्कि वे हर समय सत्यंसत्य मूल समष्टि-जीवन (Communal) या कम्युनल अनुष्ठानके सजीव संघ थे। उनका निजी स्वतंत्र सुनियंत्रित जीवन था, वे निजी भीतरकी प्रेरणासे, निजी शक्तिसे काम करती थीं—केवल राष्ट्ररूपी यंत्रके मामूली अंश रूपसे ही कार्य नहीं करती थीं। ग्राम-संघको छोटा ग्राम्य रिपब्लिकके नामसे वर्णन किया गया है, तथा इस वर्णनमें रंचमात्र भी अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती। कारण, प्रत्येक गाँव अपनी सीमाके भीतर स्वाधीन और अपने ऊपर निर्भरशील था, अपनी निर्वाचित पंचायत और निर्वाचित या वंशानुक्रमिक कर्मचारियोंके द्वारा शासित होता था, अपनी शिक्षा, शान्ति-रक्षा, विचार तथा सब अर्थनीतिक आवश्यकताओंके साधनकी व्यवस्था करता था, स्वाधीन स्वायत्त-शासन मूलक मौलिक अनुष्ठान रूपमें अपने जीवनका स्वयं ही नियंत्रण करता था। गाँवोंका परस्परके साथ कार्य भी वह अनेक प्रकारसे सम्मिलित होकर सम्पादन करता था ; बहुतसे गाँव मिलकर एक-एक आदमी निर्वाचित या वंशा-नुक्रमिक नेताके अधीन समष्टि-बद्ध होते थे तथा इस प्रकार ग्राम-समूहका भी एक स्वाभाविक समष्टिगत जीवन था, वे

अपेक्षाकृत शिथिल भावसे ही संघ-बद्ध थे।

किन्तु, ऐसा प्रतीत होता है कि भारतके नगर-संघोंका भी कम स्वाधीन और स्वायत्त-शासनशील जीवन नहीं था। वे अपनी सभा और समितिद्वारा शासित होते थे। उनकी निर्वाचन-प्रथा थी, वोटकी चाल थी। अपने स्वाधिकारमें वे अपना व्यापार चलाते थे। गाँवोंके समान ही वे भी राज्यकी साधारण समिति जानपदमें प्रतिनिधि भेजते थे। नागरिक शासन-प्रणाली-के अन्तर्गत वे सब काम थे, जो नगरवासियोंके आर्थिक या अन्यान्य कल्याणोंके अनुकूल थे, जैसे, शान्ति-रक्षा, विचार, रास्ता-घाट आदिका निर्माण और उनकी मरम्मत, धर्मस्थानोंका संरक्षण, रजिस्ट्रेशन, म्युनिस्पल टैक्स निर्द्धारण तथा व्यवसाय, शिल्प-वाणिज्य विषयक सारे व्यापारोंकी व्यवस्था। यदि ग्राम-संघको छोटा रिपब्लिक कहा जाता है तो नगर-संघको भी उसी प्रकार बड़ा नागरिक रिपब्लिक कहा जा सकता है। यह विशेष विचारणीय है कि, नैगम और पौर समितियाँ अपना सिक्का तैयार कर सकती थीं, अन्यथा यह काम केवल राजा या राज-शक्ति के ही हाथ में था।

और भी एक तरहके समष्टि-जीवनका उल्लेख करना आवश्यक है। उसका कुछ भी राजनीतिक अस्तित्व न होते हुए भी, वह अपने ढंगका स्वायत्त-शासन-मूलक अनुष्ठान था। इससे प्रमाणित होता है कि, भारतीय जीवनके सब क्षेत्रोंमें प्रबल आभास मिलता है अलक्षित भावसे कम्युनल या समष्टिगत रूपके भीतर आत्म-प्रकाशका। उदाहरण लीजिये, यौथ-परिवारका ; भारतमें सर्वत्र यह प्रचलित था तथा केवल आधुनिक अवस्था-

के प्रभावसे यह इस समय नष्ट हो गया है ; इस यौथ-परिवारके दो मूल-सूत्र हैं । पहला सूत्र तो यह कि एक वंशमें जिनलोगोंने जन्म लिया है उनका मिलकर समष्टिगत भावसे सम्पत्ति भोग करना, और परिवारमें जो प्रधान व्यक्ति हो उसके अधीन यथासम्भव अविभक्त कम्युनल जीवन व्यतीत करना ; दूसरा यह कि प्रत्येक पुरुषके लिए पिताकी सम्पत्तिमें समान भागसे अधिकारी होना, सम्पत्तिका विभाग होनेसे ही वह इस अंशका हकदार हो सकता है । इस कम्युनल ऐक्य और उसके साथ व्यक्तिके स्वतंत्र स्थायी स्वत्वाधिकारसे ही अच्छी तरह जाना जाता है कि, भारतीय जीवनधारा और मनोभाव किस प्रकार समन्वयका पक्षपाती है, जीवनके मूल सत्यको किस प्रकार यह स्वीकार करके चलता है तथा साधारण व्यवहारमें वह परस्पर-विरोधी प्रतीयमान होते हुए भी किस प्रकार उसके बीच सामंजस्य-विधानकी चेष्टा करता है । समन्वयकी ओर इस प्रकारकी प्रवृत्तिने ही भारतीय समाज-राष्ट्रके सब अंशोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे याजक (याज्ञिक), राजकीय, आभिजातिक, धनिक और साधारण-तांत्रिक धाराका सामंजस्य साधन करके एक ऐसी सम्पूर्णताका विकाश करनेकी चेष्टा की है, जिसके ऊपर इनमें किसी एककी भी विशेष छाप नहीं पड़ेगी, वह बहुत-कुछ ठोक-ठाक करके अथवा किसी मनगढ़न्त सिद्धान्त (theory) या मतवादका अनुसरण करके केवल बाहरी मिश्रणमात्र नहीं होगा, बल्कि वह जटिल बहुमुखी समाज-मन और प्रकृतिका सहोदर संस्कार तथा स्वरूपका स्वाभाविक-बाह्य प्रकाश होगा ।

एक ओर, भारतीय जीवनके वैराग्य और आध्यात्मिकताकी सीमामें हम देखते हैं, धर्म-विषयक समाज। इसने भी कम्युनल रूप ग्रहण किया था। आदिम वैदिक समाजमें चर्च या धर्म-संघ या याजक सम्प्रदायका कोई स्थान नहीं था। कारण, उस व्यवस्थामें सबलोग धर्म और राष्ट्रके विषयमें एकीभूत समूचे जीवनमें सम्बद्ध थे; ऐहिक और धार्मिक, याजक और साधारण व्यक्ति, इस प्रकारका कोई भी भेद नहीं था तथा बादको नानामुखी-विकाश होनेपर भी हिन्दू-धर्म सबके ऊपर अन्ततः दीवारके रूपमें, इसी नीतिको ही पकड़े रहा। दूसरी ओर क्रमशः संन्यासकी ओर अधिकाधिक झुकाव होनेके फलसे धर्म जीवनके साथ ऐहिक-जीवनका भेद किया गया, और स्वतंत्र धर्मसंघ बनानेकी प्रवृत्ति पैदा हुई, बौद्ध और जैन-धर्मके गौरवसे उस प्रवृत्तिने स्थायी भाव ग्रहण किया है। बौद्ध भिक्षुओंमें ही सम्बद्ध धर्म-संघकी पूर्ण मूर्त्ति पहले विकसित हुई। यहाँ हम देखते हैं कि, बुद्धने संन्यास-जीवनका गठन करनेमें भारतीय समाज और राष्ट्र-गठनकी विख्यात नीतिका ही प्रयोग किया था। उन्होंने जो सम्प्रदायकी सृष्टि की थी, उसमें उनका उद्देश्य यह था कि वह सम्प्रदाय धर्म-संघ होगा; प्रत्येक मठ एक-एक धर्म-मूलक कम्यून (Religious Commune) होगा; वह संघ-बद्ध गोष्ठी-का जीवन-व्यतीत करेगा। बौद्धोंद्वारा प्रचारित धर्म-पालन ही उसका नियम, लक्षण और जीवन-व्यतीत करनेकी प्रणालीका आधार और आदर्श होगा। यह समझनेमें देर नहीं लगती कि, ठीक यही समूचे हिन्दू-समाजकी मूल-नीति और आदर्श था। फिर भी यहाँ आध्यात्मिक और केवल धर्म-जीवनका क्षेत्र समझ-

कर उसे ऊँची प्रगाढ़ता देना सम्भव हुआ था। यह संघ भारतके सामाजिक और राष्ट्रीय कम्युनल अनुष्ठानोंके समान ही अपने कार्योंका संचालन करता था। भिक्षु-मंडली समितिमें जुट-कर धर्मके सम्बन्धमें विचारणीय प्रश्नोंकी आलोचना करती थी तथा रिपब्लिकके सभा-भवनके समान यहाँ भी वोटके द्वारा मीमांसा की जाती और जिसमें अधिक मात्रामें डेमोक्रेटिक प्रणालीका आनुषंगिक (कारुणिक) दोष न घट सके, इसका भी प्रतिविधान करनेकी व्यवस्था थी। इस मठ-प्रथाके इस प्रकार एकवार सुप्रतिष्ठित होनेपर, बौद्धोंसे हिन्दुओंने उसे ग्रहण किया, फिर भी उसके विस्तारकी कोई वैसी व्यवस्था नहीं थी। इस प्रकारका बना हुआ धर्म-सम्प्रदाय जहाँ कहीं प्राचीन ब्राह्मण-तंत्रकी अपेक्षा प्रभावशाली हो सका था—जैसे शंकराचार्यका बनाया हुआ सम्प्रदाय—वहीं वह समाजके साधारण-निवासियों-का धर्म-सम्बन्धी नेता हो गया था; फिर भी उसने कभी भी राजनीतिक शक्तिपर अधिकार करनेकी स्पर्द्धा नहीं की, तथा चर्च और राज्य (स्टेट) के बीच युद्ध होना भारतके राष्ट्रनीतिक इतिहासमे कहीं भी नही पाया जाता।

इसलिए साफ जाना जाता है कि प्राचीन-भारतके समूचे जीवनने, बड़े राज्यों और साम्राज्योंके समयमें भी, उसकी पहली नीति और मूल कर्मधाराको रोक रखा था। उसकी समाज-व्यवस्था मूलतः स्व-नियंत्रित स्वायत्त-शासन-शील संघोंको लेकर गठित बहुमुखी जटिल संस्था न थी। दो कारणोंसे इस संस्थान-के ऊपर सुसम्बद्ध राज्यके आधिपत्यके विकाशकी आवश्यकता अन्यान्य स्थानोंकी भाँति भारतमें भी हुई थी। अंशतः इसी

कारणसे कि समाजमें स्वभावतः जो शिथिल शृंखला और संगति विकशित होती है, उसने अल्प-परिसर जीवनके लिए यथेष्ट होते हुए भी, समाज-विस्तारके साथ-ही-साथ मनुष्यकी कार्य-कारिणी बुद्धि सन्तुष्ट न होकर और भी चिन्तित और नियंत्रित शृंखला और संगति-विधान करना चाहा था। किन्तु और भी विशेष कारण हुआ था यह कि युद्ध, आक्रमण, आत्म-रक्षा प्रभृति सामरिक व्यापारकी सुव्यवस्था तथा अन्यान्य देशोंके साथ कार्य-निर्वाहका भार एक केन्द्रीभूत शक्तिके हाथमें सौंप देना अनिवार्य हो गया था। स्वाधीन प्रजातंत्र राज्यके विस्तार-द्वारा सम्भवतः पहली आवश्यकता सिद्ध हो सकती थी; कारण, इसमें उसकी सम्भावना तथा उसके उपयोगी बहुतसे अनुष्ठान भी थे, किन्तु राजतंत्रकी प्रणाली अधिकतर संकुचित और सहज केन्द्रानुगतताके लिए अपेक्षाकृत सुविधा-जनक और प्रबल अनुष्ठान ही प्रतीत हुई थी। बाहरी कामोंके लिए प्रजातंत्र भारतके लिए उपयोगी नहीं था। कारण, पुराने जमानेमें भारतको एक देश न कहकर महादेश कहना ही ठीक होता। इस महान देशको राष्ट्र-नीतिक एकतामें बाँधना पहलेहीसे असाध्य दिखलायी पड़ता था। ऐसी दशामें प्रजातंत्र उसकी प्रबल सामरिक व्यवस्थाके होते हुए भी भारतके लिए अनुपयोगी हो गया था। कारण, वह आक्रमण करनेकी अपेक्षा आत्म-रक्षा करनेमें ही अधिक शक्तिशाली था। इसीसे अन्यान्य देशोंके समान भारतमें भी राजतंत्रका शक्तिशाली श्रेष्ठ अनुष्ठान ही अन्ततक जयी हुआ था तथा अन्य समूहोंको उसने अपना ग्रास बना लिया था। किन्तु उसके साथ ही भारतकी बुद्धिने अपनी मूल

अनुभूति और आदर्शके प्रति एकमात्र निष्ठावश भारतीयोंकी प्रकृतिके अनुयायी कम्युनल स्वायत्त-शासनकी दीवारको रोक रखा था; राजतंत्रके स्वेच्छाचार-मूलक होनेसे या उसके निर्दिष्ट कार्यकी सीमा पार करने नहीं दिया था; तथा जिसमें वह समाज-जीवनको प्राणहीन यंत्रवत् न बना दे, इस विषयमें बाधा डालनेमें कृतकार्य हुआ था। केवल विशाल अवनतिके युगमें ही हम देख पाते हैं कि राजकीय प्रभुत्व एवं जन-साधारणका स्व-नियंत्रणशील कम्युनल जीवन इन दोनोंका मध्यस्थ-स्वरूप जो स्वाधीन अनुष्ठान था, वह सब क्रमशः नाशकी ओर अग्रसर हुआ था अथवा उनकी पुरानी शक्ति और तेजस्विताको बहुत अंशोंमें खो बैठा था, एवं नौकर-शाही-मूलक व्यक्तिगत शासनके और केन्द्रीय गवर्नमेंटके अत्यधिक आधिपत्यके दोषोंको एक-एक करके दिखलाना शुरू किया था, जबतक भारतीय राष्ट्र-व्यवस्थाकी प्राचीन रीति-नीतिकी स्मृति कायम थी तथा जिस परिणाममें वह सब सजीव और काम करनेवाली थी, तबतक यह सब दोष जहाँ-तहाँ क्षण-स्थायी रूपसे देखनेमें आता था, अथवा वह सब अधिक मात्रामें बढ़ नहीं सका था। बाद जब एक ओरसे विदेशियोंका आक्रमण और पराधीनता, दूसरी ओरसे भारतकी प्राचीन संस्कृति (Culture) की मन्द अवनति एवं अन्ततक पतन, ये दोनों एकमें मिले, तब प्राचीन अनुष्ठान बहुत अंशोंमें टूट गया; देशका समाज-राष्ट्र-जीवन अधःपतित और छिन्नविच्छिन्न हो गया। फिरसे अभ्युत्थान या नवीन सृष्टिका और कोई यथेष्ट उपाय कायम नहीं रह गया।

भारतीय सभ्यताके ऊँचेसे-ऊँचे विकाश और गौरवके

दिनोंमें हम देखते हैं, एक अपूर्व राष्ट्र-शासन-पद्धति। वह उत्कृष्ट कार्यक्षम थी तथा उसने कम्युनल स्वायत्त-शासनके साथ दृढ़ प्रतिष्ठता और सुश्रृंखलाका पूर्ण समन्वय साधन किया था। स्टेट अपना शासन, विचार, अर्थनीति और देश-रक्षा-विषयक काम करता था, किन्तु इन सब मुहकमोंमें जनसाधारणके तथा उसे लेकर गठित अनुष्ठानोंके अधिकारों और स्वाधीन कार्योंमें विघ्न या हस्तक्षेप नहीं करता था। राजधानीमें और देशमें राजकीय अदालतें श्रेष्ठ विचारालय थीं; वे समूचे राज्यके विचार-कार्योंमें संगति-विधान करती थीं; किन्तु ग्राम-संघ और नगर-संघने अपनी अदालतमें जो शासनकी योग्यता अर्पण की थी, उसके ऊपर राजकीय विचारालय अनुचित हस्तक्षेप नहीं करता था। यहाँतक कि राजकीय विचारालय गिल्ड (Guild) जाति और परिवारकी निजी अदालतोंके साथ सहयोग करती थी, इनके द्वारा प्रचुर परिणाममें सहायता मिलती थी तथा राजकीय अदालतें केवल बड़े-बड़े अपराधोंके विचारका भार ही अपने हाथमें रखना चाहती थीं। विचार-कार्यकी ही भाँति राष्ट्र-कार्य-निर्वाह और अर्थनीतिक योग्यताके प्रयोगमें भी ग्राम-संघ और नगर-संघके अधिकारोंके प्रति सम्मान-प्रदर्शन किया जाता था। नगरमें और देशमें राजाके शासन-कर्त्ता और कर्मचारीलोग जनसाधारण और उसकी समिति-द्वारा नियोजित शासनकर्त्ता, कर्मचारी और साम्प्रदायिक प्रमुख-व्यक्तियोंके निकट रहकर ही कार्य करते थे। राज्य (स्टेट) देशवासियोंके धर्म-विषयमें, स्वाधीनतामें अथवा प्रचलित सामाजिक और अर्थनीतिक जीवन-प्रणालीमें हस्तक्षेप नहीं करता

था। राज्यका काम था केवल समाजमें शान्ति-शृंखलाकी रक्षा करना, तथा जातीय जीवनके सब कार्योंका अच्छी तरह निर्वाह होनेके लिए प्रयोजनीय परिदर्शन करना, सहायता करना, संगति-विधान करना, सब तरहकी सुविधा और सुयोग कर देना। भारतकी जातीय प्रतिभाने जो स्थापत्य, आर्ट (कला), संस्कृति (Culture), शिक्षा, साहित्यकी पहले सृष्टि की थी, उन सबकी उन्नति करनेमें उत्साह देना और सहायता करना राज्यका परम कर्त्तव्य है, इस बातको राज्य अच्छी तरह समझता था और सदैव बड़ी उदारताके साथ वह अपने उच्च कर्तव्यका पालन किया करता था। राजा एक स्वाधीन सजीव जातिके महान सुदृढ़ प्रतिष्ठित सभ्यताका सम्मान करने योग्य और शक्तिशाली मस्तक स्वरूप था, तथा शासन-पद्धति उसका श्रेष्ठ-कार्य-निर्वाहक अनुष्ठान-स्वरूप थी। वह न तो स्वेच्छाचारी राजतंत्र या अमलातंत्र (नौकरशाही) था और न जातीय जीवनको पेषण करनेका यंत्र ही था।

भारतीय ऐक्य-साधनकी समस्या

पाश्चात्य समालोचकोंका कहना है कि भारतीय बुद्धिने यद्यपि दार्शनिकता, धर्म, कला (Art) और साहित्यमें विशेष शक्तिका परिचय दिया है, फिर भी वह जीवन-संगठनके मामलेमें अकुशल थी, व्यावहारिक बुद्धिके प्रयोगमें न्यून थी, उसके इतिहासमें सुनिपुण राष्ट्रनीतिक गठन, गवेषणा और कर्मका स्थान शून्य था ; किन्तु असली तथ्य अवगत होने तथा भारतीय राष्ट्र-व्यवस्थाका स्वरूप और नीति यथार्थ भावसे हृदयंगम करनेपर इस प्रकारका अभियोग मानसमें पैदा ही नहीं हो सकता। सच तो यों है कि भारतीय सभ्यताने जिस विलक्षण राष्ट्र-व्यवस्थाका विकाश किया था, उसमें स्थायी उत्कर्षता था और निर्दोष गठन था। राष्ट्र-गठनकी चेष्टामें मनुष्यकी बुद्धि जिस राजतंत्र, साधारणतंत्र और अन्यान्य आदर्शों तथा नीतियोंकी ओर आकृष्ट

हुई है, भारतीय सभ्यताने अपूर्व कौशलसे उन सबका समन्वय-साधन किया था, अथच वर्त्तमान यूरोपीय राष्ट्रोंके जो दोष हैं, सब वस्तुओंको यंत्रवत् उठानेकी ओर जो अत्यधिक प्रवणता—आसक्तता—है, उन्हें वह ठुकरानेमें समर्थ हुई थी। क्रम-विकाश और प्रगतिके पाश्चात्य आदर्शके अनुसार विचार करनेपर भारतीय राष्ट्र-व्यवस्थाके विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठ सकती हैं, उन सबकी आलोचना हम आगे करेंगे।

किन्तु राष्ट्रनीतिकी एक दिशा और है, जिससे यह बात कही जा सकती है कि भारतकी राष्ट्रनीतिक बुद्धि असफलताको छोड़ और कुछ भी दिखलानेमें समर्थ नहीं हुई थी। उसने जिस व्यवस्थाका विकाश किया था, वह दृढ़तामें और शासन-विषयक कार्य-कुशलतामें तथा प्राचीन अवस्थानुयायी समष्टि-जीवनकी शृंखला और स्वाधीनताके विधानमें एवं जनसाधारणके कल्याण-विधानमें प्रशंसनीय हो सकती है ; किन्तु यद्यपि भारतके अन्तर्गत बहुतसा जन-समाज (उनमें प्रत्येक अलग-अलग) स्वायत-शासनशील था, सुशासित और समृद्धि-सम्पन्न था, तथा समूचे देशमें एक उच्च विकशित सभ्यता और पाण्डित्य ये दोनों निश्चित रूपसे क्रिया करते थे, तथापि उक्त व्यवस्था भारतकी जातीय और राष्ट्रनीतिक एकताका साधन करनेमें सफल नहीं हुई तथा अन्त-तक विदेशियोंके आक्रमणोंसे देशकी रक्षा करने, जातीय अनुष्ठानोंका ध्वंस-निवारण करने एवं बहुकाल-व्यापी पराधीनताका निवारण करनेमें कृतकार्य नहीं हुई। किसी भी समाजकी राष्ट्र-नीतिक व्यवस्थाका विचार करनेके लिए सबसे पहले यह अवश्य देखना पड़ता है कि वह जातिको दृढ़-प्रतिष्ठा, समृद्धि, आन्तरिक

स्वाधीनता और शृंखला देनेमें कहाँतक समर्थ हुई है; किन्तु यह भी देखना पड़ता है कि अन्यान्य राष्ट्रोंसे निरापद रहनेके लिए उसने किस प्रकारकी व्यवस्था की है, बाहरी शत्रुओं और प्रतिद्वन्द्वियोंपर आक्रमण करने तथा उनके आक्रमणोंसे आत्म-रक्षा करनेके लिए प्रयोजनीय एकता और शक्तिका कहाँतक विकाश किया है। यह सब जो देखना पड़ता है, वह सम्भवतः मानव-समाजके लिए कोई प्रशंसाकी बात नहीं है; जो जाति या देश इस प्रकारकी राष्ट्रनीतिक शक्तिसे हीन है, वह अपने विजेताओंकी अपेक्षा पांडित्य और सभ्यतामें बहुत उन्नत हो सकता है, तथा युद्ध-कुशल राष्ट्र, आक्रमणशील जाति, दूसरे देशोंका शोषण करनेवाले साम्राज्यकी अपेक्षा मानव-जातिकी प्रगतिमें बहुत अधिक सहायता कर सकता है; प्राचीन ग्रीक और मध्य-युगके इटालियन इसके दृष्टान्त हैं। किन्तु मनुष्यका जीवन इस समय भी खास करके प्राणशक्ति (Vital) के क्षेत्रमें है। इस क्षेत्रमें आत्म-विस्तार, दखल, आक्रमण, दूसरेको निगल जाने तथा दूसरेपर आधिपत्य करनेके लिए द्वन्द्व, इन्हीं सब बातोंकी प्रेरणा ही बलवान है; कारण यह कि यही सब प्राणशक्तिका पहला धर्म हो रहा है। अतएव जो समष्टिगत बुद्धि और चेतनता, आक्रमण और आत्म-रक्षामें सदा सामर्थ्य-हीनताका परिचय देती है, तथा अपनी निरापदताके लिए आवश्यकीय केन्द्रीभूत और कार्यकरी एकताका विधान नहीं करती, वह राष्ट्रनीतिके क्षेत्रमें प्रथम श्रेणीमें स्थान पानेके योग्य नहीं—इस विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं। भारतकी जातीय और राष्ट्रनीतिक एकता कभी भी साधित नहीं हुई। भारत करीब एक हजार वर्षसे बाहरकी बर्बर-

जातियोंके आक्रमणोंसे विध्वस्त हुआ है, तथा लगभग और एक सहस्र वर्षसे अनेक विदेशी शासकोंके पैरोंके नीचे दबा हुआ है। अतएव कहा जा सकता है कि भारतवासी राष्ट्रनीतिक मामलेमें अयोग्य हैं।

इस समय सबसे पहले सब अत्युक्तियोंका खंडन करने, प्रकृत तथ्य तथा उसके मर्मके सम्बन्धमें स्पष्ट धारणा करने, एवं भारतके विशाल इतिहासमें वस्तुतः जिस समस्याका समाधान नहीं मिलता उसके अन्तर्निहित तत्वको ठीक-ठीक हृदयंगम करनेकी आवश्यकता है। पहले यदि किसी जाति और सभ्यता-के महत्वका विचार करनेके लिए उसकी सामरिक आक्रमण-शीलताका लेखा लगाया जाय, देखा जाय कि किस परिणाममें उसने दूसरे देशोंपर विजय प्राप्त कर ली है, दूसरी जातिके साथ संग्राममें कहाँतक सफलता मिली है, उसकी सुव्यवस्थित पर-स्वापहरण प्रवृत्तिने कहाँतक जय-लाभ किया है, उसकी दूसरेके देश, शासन और शोषण करनेकी प्रेरणा कैसी अदम्य है, तो यह बात अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि, संसारकी महाजातियोंकी तालिका-(सूची) में भारतका स्थान सबसे नीचे है। भारतने कभी भी दूसरेके देशपर आक्रमण तथा अपनी सीमाके बाहर राज्य-विस्तारकी चेष्टा की है, यह बात देखनेमें नहीं आती; संसारके ऊपर आधिपत्य स्थापनका कोई भी महा-काव्य या सुदूर दिग्विजय और औपनिवेशिक साम्राज्य-विस्तार-की कोई भी बड़ी कहानी भारतकी कृतियोंका वर्णन करनेमें नहीं रची गयी है। भारतने आत्म-विस्तार, दिग्विजय, आक्र-मणका जो एकमात्र महान प्रयास किया है, वह है उसकी

शिक्षा-दीक्षाका विस्तार, बौद्ध-धर्मद्वारा प्राच्य जगतपर आक्रमण और अधिकार, एवं उसकी आध्यात्मिकता, कला तथा चिन्ता-शक्तिका संचारण। और ये जो आक्रमण थे, वे भी शान्तिमय थे; इनमें युद्ध-विग्रह नहीं था। कारण, बल-प्रयोग और देश-विजयके द्वारा अध्यात्म सभ्यताके विस्तारकी जो नीति आधुनिक साम्राज्यवादके लिए गर्व करनेका विषय या कारण स्वरूप हो रहा है, वह भारतके प्राचीन मनोभाव और मति-गति तथा उसके धर्मके मूल आदर्शका विरोधी था। यह बिलकुल सच है कि क्रमशः बहुतसे औपनिवेशिक अभियान (वाहन) भारतके रक्त और भारतकी शिक्षा-दीक्षाको वहन करके द्वीपोंमें ले गये थे, किन्तु जिन जहाजोंने भारतके पूर्वी और पश्चिमी किनारोंसे यात्रा की थी, वे निकटवर्त्ती देशोंपर विजय करके भारतका साम्राज्य-विस्तार करनेके उद्देश्यसे प्रेरित नहीं थे। उनपर भारतके निर्वासित व्यक्ति अथवा साहसी भाग्यका अन्वेषण करनेवाले लोग भारतका धर्म, स्थापत्य, शिल्प, काव्य, चिन्ता, जीवनधारा, आचार-व्यवहारको साथ लेकर ऐसे सब देशोंमें गये थे, जहाँ उस समय भी सभ्यताका प्रकाश नहीं पहुँचा था। साम्राज्य-स्थापन-की, यहाँतक कि संसार-व्यापी साम्राज्य-स्थापनकी बातने भारत-वासियोंके मनमें स्थान नहीं पाया था—ऐसी बात नहीं है; बल्कि उन देशोंके सामने भारत ही संसार था, तथा उसकी साम्राज्य-चेष्टाका लक्ष्य था भारतकी अन्तर्गत जातियोंकी महान एकताकी प्रतिष्ठा करना।

यही था आदर्श, और यही थी प्रयोजनकी अनुभूति; इसी-को कार्य-रूपमें परिणत करनेकी नियत प्रेरणा भारतके इतिहास-

में बराबर देखनेको मिलती है—वैदिककालसे आरम्भ करके रामायण और महाभारतमें वर्णित युगतकमें, गुप्त और मौर्य सम्राटोंकी चेष्टाओंमें,—मुगलोंके ऐक्य-साधनमें तथा अन्तमें पेशवाओंकी उच्चाकांक्षाओंमें, अन्तमें सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुई हैं, तथा सारी विवाद करनेवाली शक्तिने एक विदेशी शासनकी अधीनतामें समता लाभ किया है, स्वाधीन जातिकी स्वाधीन एकताके बदले पराधीनताका शासन स्थापित हुआ है। इस समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, ऐक्य-साधनकी यह जो मन्दगति, दुष्करता, अवस्था-विपर्यय, एवं सुदीर्घ प्रयासकी अन्तमें व्यर्थता-में समाप्ति है, इसका कारण क्या भारतीय सभ्यताकी, भारत-वासियोंकी राष्ट्रीय चेतना और सामर्थ्यकी कोई मूलगत अक्षमता (क्षमा-शून्यता) है, या इसका कोई दूसरा कारण भी है? भारतवासी ऐक्य-बद्ध होनेमें अक्षय हैं, उनमें एक देशप्रेमका अभाव है, यह सब केवल वर्तमान समयमें पाश्चात्य सभ्यताके प्रभावसे ही उनमें पैदा हो रहा है, धर्म और जाति-भेदमें वे बहुधा विभक्त हैं, इन्हीं सब बातोंको लेकर बहुतोंने बहुतसी बातें कही और लिखी हैं। उन सब आलोचनाओंका गुरुत्व यदि पूर्ण रीतिसे स्वीकार कर लिया जाय—ये सब बिलकुल सत्य नहीं हैं, या ठीक तरहसे कथित नहीं हुए हैं, अथवा इस विषय-में यथार्थ प्रासंगिक नहीं हैं—तो भी ये सब उपसर्गमात्र हैं, इनके गम्भीर कारणकी खोज हमलोगोंको करनी ही पड़ेगी।

इस प्रकारकी समालोचनाओंका साधारणतः जो उत्तर दिया जाता है, वह यह है कि, भारत एक महादेश है, बहुसंख्यक जन-समाजको लेकर यह आकार-प्रकारमें प्रायः यूरोपके ही

समान है, यूरोपकी 'एकताके साधनमें जो बाधायें हैं, वैसी ही गुरुतर बाधाएँ यहाँकी भी हैं। यूरोपका ऐक्य-साधन आज भी आदर्शकी तहमें निष्फल कल्पनामात्र हो रहा है, आज भी उसे कार्य-रूपमें सिद्ध करना सम्भव नहीं हुआ है, यह यदि पाश्चात्य सभ्यताकी अयोग्यताका अथवा यूरोपियनोंकी राष्ट्र-नीतिक क्षमाहीनताका परिचायक न हो, तो भारतके इतिहासमें जो यह दिखलायी पड़ता है कि भारतवासियोंने ऐक्यके आदर्श-को बहुत स्पष्टताके साथ ग्रहण किया है, उसे कार्यरूपमें परिणत करनेकी उसने महान चेष्टा की है, तथा बारम्बार वह सफलताके समीप पहुँचा है, उसे दूसरे मानदण्डसे विचार करना ठीक नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकारकी युक्तिमें कुछ जोर है, किन्तु यह पूर्ण संगत नहीं है; कारण, सादृश्य बिलकुल ही पूर्ण नहीं है, तथा आनुषंजिक अवस्थाएँ भी ठीक एक तरहकी नहीं है। यूरोपकी सारी जातियाँ अपनी समष्टिगत सत्तामे एक दूसरेके साथ बहुत स्पष्ट रूपसे विभक्त हैं तथा खीष्ट धर्ममें उसका जो आध्यात्मिक ऐक्य है, यहाँतक कि साधारण यूरोपीय सभ्यतामें उसकी जो पांडित्यपूर्ण एकता है, वह भारतकी प्राचीन आध्यात्मिक और पांडित्यपूर्ण एकताके समान कभी भी इतनी वास्तविक और सम्पूर्ण नहीं थी, और वह अपने जीवनका कदापि केन्द्र-स्वरूप नहीं थी, इसकी भित्ति या सुदृढ़ प्रतिष्ठान भूमि नहीं थी, वह थी केवल एक साधारण पारिपार्श्विक बेठनके समान। उसके जीवनकी भित्ति निहित थी राष्ट्रनीतिक और अर्थनीतिक संस्थानपर, तथा यह प्रत्येक देशमें विशेष रूपसे पृथक थी। और पाश्चात्य मनमें राष्ट्रनीतिक चेतनाका जो प्राबल्य है, उसीने

यूरोपको बहुत प्रतिद्वन्द्वी और सदैव आपसकी कलहमें रत जातिमें विभक्त कर रक्खा है। राष्ट्रनीतिक मामलोंमें एकताकी वृद्धि तथा वर्तमान समयमें अर्थनीतिक मामलोंमें एक दूसरेके ऊपर पूर्ण निर्भरता, केवल इसने अन्ततक जो बात पैदा की है वह ऐक्य नहीं है बल्कि एक जाति-संघ (League of Nations) है ; वह भी इस समय दब गया है, अभीतक कोई विशेष कामका नहीं, वह युगयुगान्तके द्वन्द्वके फलसे जो मनोभाव पैदा हुआ है, उसे यूरोपीय जातियोंके साधारण स्वार्थमें नियोजित या प्रेरित करनेकी व्यर्थ चेष्टा कर रहा है। किन्तु भारतमें बहुत प्राचीनकालसे ही आध्यात्मिकता और पांडित्य-मूलक ऐक्य पूर्ण रीतिसे प्रतिष्ठित हुआ था, तथा वही हुआ था हिमालय और दो समुद्रोंके बीच इस विराट जन-समूहके जीवनका मूल उपादान-स्वरूप। प्राचीन भारतके लोगोंकी कभी भी राष्ट्रनीतिक और अर्थनीतिक जीवनमें एक दूसरेके साथ स्पष्ट रीतिसे विभक्त अलग-अलग उनकी जाति नहीं थी जितनी महान आध्यात्मिक और पांडित्यपूर्ण जातिके अन्तर्गत विभिन्न उपजाति थी। वह महाजाति भौगोलिक संस्थानमें समुद्र और पर्वत-मालाओंके द्वारा अन्यान्य देशोंसे जिस तरह दृढ़ताके साथ अलग थी, उसी तरह अपने विशिष्ट धर्म और पांडित्यके द्वारा अन्यान्य जातियोंसे भी वह अलग थी। अतएव देश कितना ही विशाल क्यों न हो, तथा कार्यमें चाहे जितनी बाधाएँ हों, उसका राष्ट्र-नीतिक ऐक्य यूरोपके ऐक्यकी अपेक्षा स्वाभाविक ही सम्पादित होना उचित था। ऐसा क्यों नहीं हुआ, इसके कारणका पता लगानेके लिए हमें और भी गहराईमें जाना पड़ेगा। तब हम

देख पावेंगे कि, समस्याका समाधान जिस भावसे निश्चय किया गया था अथवा करना उचित था, वास्तविक चेष्टा उस मार्गसे नहीं हुई, तथा वह भारतवासियोंके विशिष्ट मनोभावके विरुद्ध हुई थी।

भारतीय मनकी भित्ति है उसकी आध्यात्मिकता और अन्तर्मुखीनताकी ओर झुकाव, सबके आगे तथा प्रधानतः आत्मा और भीतरी वस्तुओंकी खोज करना एवं और सबको गौण समझकर, साधारण समझकर देखनेकी प्रवृत्ति; इन सबका महान ज्ञानके प्रकाशमें निर्णय करना होगा, व्यवहार करना होगा; यह सब है गम्भीर अध्यात्म लक्ष्यकी अभिव्यक्तिमात्र, प्राथमिक क्षेत्र या सहायमात्र, अन्ततः कुछ आनुषंगिकमात्र। अतएव भारतीय मनकी गति है—जो कुछ सृष्टि करनी होगी पहले उसकी भीतरके क्षेत्रमें सृष्टि करना, बाद उसके अन्यान्य अंगोंका विकाश करना। इस मनोभावके फल-स्वरूप भीतरसे आरम्भ करके बाहरी सृष्टि करनेकी प्रवृत्ति मुख्य थी। यह अवश्यम्भावी था कि भारत अपने जिस ऐक्यकी पहले सृष्टि करेगा, वह आध्यात्मिक ऐक्य होगा। रोम अथवा प्राचीन फारस देशमें विजयी राज्य या समर-तांत्रिक संगठनशील जातिकी प्रतिभासे केन्द्रानुगत वाह्य शासनके द्वारा जो राष्ट्रनीतिक ऐक्य स्थापित हुआ था, भारतमें प्रारम्भसे ही उस तरहका ऐक्य-साधन सम्भव नहीं हुआ। मेरे दिलमें यह बात नहीं आती कि यह भूल हुई थी, यह भारतवासियोंकी व्यावहारिक बुद्धिके अभावका प्रमाण था या एक राष्ट्रका पहले ही गठन करना उचित था, बाद स्वाधीन भारतीय साम्राज्यके सुविशाल शरीरमें आध्यात्मिक ऐक्य

अवश्यमेव विकाश प्राप्त कर सकता। प्रारम्भमें ही जो समस्या उठी थी, वह सैकड़ों राज्य, कुल, जाति (races), गोष्ठीकी निवास-भूमि एक बहुत बड़े देशकी समस्या थी, इस विषयमें वह ग्रीसके ही समान थी, किन्तु विशाल भावसे विस्तृत ग्रीस,—आकारमें प्रायः आधुनिक यूरोपके समान ही बड़ा। ग्रीसमें जिस प्रकार मूलगत एकताके बोधकी सृष्टि करनेमें हेलेनिक (hellenic) ऐक्यका प्रयोजन हुआ था, यहाँ भी इन सब लोगोंमें और अलंघनीय रूपसे एक सचेतन आध्यात्मिक ऐक्यका प्रथम अनिवार्य प्रयोजन था, इसके अतिरिक्त कोई भी स्थायी ऐक्य सम्भव नहीं था। इस विषयमें भारतीय बुद्धिकी, तथा भारतकी शिक्षा-दीक्षाके प्रतिष्ठाता महानुभव ऋषियोंकी सहजोपलब्धिमें कोई भी भूल नहीं हुई थी और यदि यह भी मान लिया जाय कि प्राचीन भारतके लोगोंमें रोमन जगतके समान सामरिक और राष्ट्रनीतिक उपायोंद्वारा एक बाहरी साम्राजिक ऐक्य स्थापित किया जाता, तो भी हमें अपने दिलमें यह रखना उचित है कि यह रोमन ऐक्य भी स्थायी नहीं हुआ, यहाँतक कि रोमकी विजय और संगठनके द्वारा प्राचीन इटलीका जो ऐक्य संपादित हुआ था, वह भी स्थायी नहीं हुआ। भारतकी विशाल परिधिमें पहले ही आध्यात्मिकताकी भित्ति बनाये बिना इस प्रकारके ऐक्य-साधनकी चेष्टा करनेसे वह भी स्थायी न होता—ऐसा जान पड़ता है। और यदि आध्यात्मिक ऐक्यकी ओर सर्वस्व या अत्यधिक झुकाव हुआ था, तथा राष्ट्रनीतिक और बाह्य ऐक्यकी चेष्टा साधारणतः हुई थी, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसका फल केवल अनर्थकारी ही हुआ था या इससे कोई

भी सुविधा नहीं हुई थी। यह जो मूल विशेषता है, यह अमोचनीय आध्यात्मिकताकी छाप है, सब भेदोंमें यह अन्तर्निहित ऐक्य है, इसीके फलसे भारत यद्यपि अबतक संघ-बद्ध राष्ट्रनीतिक जातिमें परिणत नहीं हो सका है, तथापि भारत टिका हुआ है तथा आज भी भारत भारत ही बना हुआ है।

वस्तुतः केवल आध्यात्मिक ऐक्य ही स्थायी ऐक्य है। एक जाति टिकी रही खासकर उसके स्थितिशील मन और आत्माके लिए, न-कि स्थायी स्थूल शरीर और बाहरी संगठनके लिए। यह सत्य पाश्चात्यका वहिर्मुखी आशय समझने या स्वीकार करनेमें अनिच्छुक हो सकता है, किन्तु युग-युगान्तके इतिहासमें इसका प्रमाण लिखा हुआ है। भारतकी समकालीन प्राचीन जातियाँ तथा उसके बाद पैदा हुई उसकी अपेक्षा तरुण बहुतसी जातियाँ नष्ट हो गयीं, केवल उनका स्मृति-चिह्न पड़ा रह गया है। ग्रीस और मिश्र रह गया है केवल नाममें और मानचित्रमें; कारण, हेलासकी आत्मा (the soul of Hellas) अथवा जिस जातीय आत्माने मेमफिस (Memphis) निर्माण किया था, उसे अब हम एथेन्स या कैरोमें नहीं देख पाते। रोमने भूमध्य सागरके तीरवर्त्ती जातियोंके ऊपर एक राष्ट्रनीतिक तथा एक केवल बाहरी एकताका बोझा लाद दिया था; किन्तु उनके सजीव आध्यात्मिक ऐक्यकी सृष्टि करनेमें समर्थ नहीं हुआ। इसीसे पूर्वी देश पश्चिमी देशोंसे अलग हो गये, अफ्रिकाने सामयिक रोमनके अधिकारोंका चिह्नतक नष्ट कर दिया। यहाँतक कि पश्चिमकी जातियाँ जिन्हें आज भी लेटिन (Latin) जाति कहा जाता है, वे भी वर्वरोंके आक्रमणोंमें सजीवता पूर्वक बाधा नहीं डाल सकीं,

विजातीय जीवनी शक्तिके मिश्रणसे नवजन्म प्राप्त करनेके बाद ही वे आधुनिक इटली, स्पेन और फ्रांस हो सकी हैं। किन्तु भारत आज भी बचा हुआ है। आज भी उसने मन, प्राण, आत्मा में युगयुगान्तके भारतके साथ योगसूत्र सुरक्षित रख छोड़ा है। विदेशियोंका आक्रमण और शासन, ग्रीक, पर्शियन, हूण, इस्लाम-का दुर्द्धर्ष तेज, बृटिश शासन और बृटिश-तंत्रका नाशकारी असह्य भार, पाश्चात्यका भयंकर दबाव, कुछ भी वैदिक ऋषियों-द्वारा सृजे हुए भारतके शरीरसे उसकी प्राचीन आत्माको बहि-ष्कृत करने अथवा ध्वंस करनेमें समर्थ नहीं हुआ। पग-पगपर, प्रत्येक विपद, आक्रमण और पराधीनतामें वह सक्रिय प्रतिरोध-के द्वारा आत्म-रक्षा करनेमें समर्थ हुआ है। अपने गौरवके युग-में वह यह करनेमें समर्थ हुआ था। अपने आध्यात्मिक बलसे तथा साक्षी करनेवाली और प्रतिक्रिया करनेकी शक्तिके बलसे, जिसे ग्रहण करना साध्य नहीं था उसे दूर कर दिया है और जो दूर नहीं किया जा सकता था उसे अपनेमें मिला लिया है; यहाँतक कि जिस समय उसका अधःपतन आरम्भ हुआ है, उसके बाद भी इसी शक्तिके बलसे वह बचा रहनेमें समर्थ हुआ है, निस्तेज होनेपर भी अवध्य रहा है, पीछे हटकर दक्षिण देशमें कुछ समय-तक उसने अपनी प्राचीन राष्ट्र-व्यवस्थाको कायम रक्खा है। इस्लाम-के आक्रमणसे अपनी प्राचीन आत्मा और आदर्शकी रक्षा करनेमें उसने राजपूत, सिख और मराठोंका अभ्युत्थान किया। जहाँ वह सक्रिय भावसे प्रतिरोध नहीं कर सका और जहाँ उसने निष्क्रिय भावसे ही आत्मरक्षा की है, जो साम्राज्य उसकी समस्याका समाधान नहीं कर सका अथवा उसके साथ सन्धि नहीं कर सका उसीका उसने

सर्वनाश कर डाला, तथा सदा अपने पुनः अभ्युत्थानके दिनोंकी अपेक्षा करता रहा और आज भी इसी प्रकारका एक व्यापार हमारी आँखोंके सामने घट रहा है। तो फिर जो सभ्यता यह असाध्य साधन करनेमें समर्थ हुई है, उसकी असाधारण जीवनी शक्तिके सम्बन्धमें तथा जिन्होंने इसकी भित्ति किसी बाहरी वस्तुके ऊपर स्थापित न करके आत्मा और मनके ऊपर स्थापित की थी एवं आध्यात्मिक ऐक्यको उसकी क्षणिक शोभा-मात्र न करके उसके जीवनका मूल और सार वस्तु कर दिया था, ध्वंसशील ऊर्द्धस्तरमात्र न करके चिरस्थायी भित्ति कर दी थी, उनकी दूरदर्शिता और ज्ञानके सम्बन्धमें और कहना ही क्या है?

किन्तु आध्यात्मिक ऐक्य व्यापक और स्तुत्य वस्तु है, राष्ट्र-नीतिक और बाह्यिक ऐक्यके समान यह केन्द्रमें करनेवाली और समान रूपताके ऊपर निर्भर नहीं करता, यह सब अंगोंमें व्याप्त होकर रहता तथा जीवनकी बहुत विचित्रता और स्वाधीनताका अबाध अवसर देता है। प्राचीन भारतको ऐक्यबद्ध करनेकी समस्या क्यों इतनी कठिन थी, इसी जगह हम उस गूढ़ कारण-का आभास पाते हैं। साधारणतः जिस भावसे यह सम्पन्न किया जाता है, एक केन्द्रानुगत समाकार साम्राजिक राज्यके द्वारा सारी स्वच्छन्द विचित्रता, स्थानीय स्वतंत्रता, प्रतिष्ठित साम्प्रदायिक स्वाधीनताको लुप्त कर दिया जाता है, भारतमें वह सम्भव नहीं था। जितनी बार इस प्रकारकी चेष्टा की गयी है, उतनी ही बार वह दीर्घ कालतक कृतकार्यताका आभास देनेपर भी अन्तमें व्यर्थ हुई है। यहाँतक कि हम यह भी कह सकते हैं कि भारत-

के भाग्य-देवताने जो इस प्रकारकी चेष्टाको व्यर्थ होनेके लिए वाध्य किया है, ताकि उसकी आन्तरिक सत्ताका नाश न हो, ताकि सामयिक निरापदताकी व्यवस्था करने जाकर उसके आत्म-जीवनके गंभीर प्रसवनको नष्ट न कर डाले, यह ठीक ही किया है। भारतके लिए प्रकृत प्रयोजन क्या था, इसे भारतकी प्राचीन बुद्धिने साक्षात् रूपसे उपलब्ध किया था। उसके साम्राज्यका आदर्श था एक ऐसा ऐक्य-साधक शासनतंत्र जो स्थानीय और सांप्रदायिक स्वाधीनता जो जहाँ हो, सबको कायम रक्खे, किसी सजीव स्वायत्त-शासन-मूलक अनुष्ठानको व्यर्थ ही नष्ट न करे, जीवनके समन्वयका साधन करे। यांत्रिक ऐक्य उसका आदर्श नहीं था। जो अवस्था-परम्परामें इस प्रकारका समाधान निश्चित रूपसे विकशित हो सकता था, परवर्त्तीकालमें उसका अभाव हो गया और उसके बदले शासन-मूलक एकच्छत्र साम्राज्य-स्थापनका प्रयास किया गया। एक निकट और वाह्य प्रयोजन मिटानेमें इस प्रकारकी चेष्टा करना आवश्यक हो गया था, किन्तु महत्त्व और चमत्कारत्वके होते हुए भी वह चेष्टा पूर्ण रीतिसे सफल नहीं हो सकी। न हो सकनेका कारण यह था कि उसने जिस मार्गका अवलम्वन किया था, घटना-क्रमसे वह भारतीय आत्माकी प्रकृत गतिका अनुयायी नही हुआ। हमने देखा है कि भारतीय राष्ट्र-समाज व्यवस्थाकी मूलगत नीति थी कम्युनल या सम्प्रदायिक स्वतंत्र अनुष्ठानोंका समन्वय-साधन, गाँवोंका स्वा-तंत्र्य, नगर और राजधानीका स्वा-तंत्र्य, जातिका (Caste) स्वा-तंत्र्य, गिल्ड (Guild), गोष्ठी, कुल, धर्म-संघ आदिका स्वा-तंत्र्य, इन सबका समन्वय-साधन। स्टेट या राजतंत्र अथवा जनसंघ था इन सव स्व-तंत्र अनुष्ठानों

को ऐक्य-बद्ध करके रखने तथा एक मुक्त और सजीव राष्ट्र-शरीरके भीतर लेकर सबको समंजसीभूत करनेका यंत्र। साम्राजिक समस्या थी इन सब स्टेट जाति, नेशनको उनके स्वा-तंत्र्यकी रक्षा करते हुए संघ-बद्ध करनेकी तथा इसी प्रकार एक विशाल मुक्त और सजीव राष्ट्र-शरीरके भीतर सबका ऐक्य-साधन करनेकी। एक ऐसे राष्ट्र-संगठनका आविष्कार करना आवश्यक था जो सब अंगोंकी शान्ति और ऐक्यकी रक्षा करता, बाहरी आक्रमणों-से निरापदताकी व्यवस्था करता, या भारतीय सभ्यता और शरीरकी स्वच्छन्द क्रिया और क्रम-विकाशको ऐक्यमें और विचित्रतामें, मिले हुए सब साम्प्रदायिक और स्थानीय अनुष्ठानों-के अप्रतिहत और कर्ममय जीवनमें, सम्पूर्णता प्रदान करता, धर्मको विराट और समूचे आकार-प्रकारमें, या यों कहिये व्यापक रूपमें कार्य करने देता।

भारतकी प्राचीन बुद्धिने समस्याको इसी अर्थमें समझा था। परवर्त्ती कालका शासन-मूलक साम्राज्य इसको केवल आंशिक रूपसे ग्रहण करता है; किन्तु उसका झुकाव था खूब धीरे-धीरे तथा बेजानकारीमे अधीनस्थ स्व-तंत्र अनुष्ठानोंको ध्वंस न करके, अन्ततः उनकी शक्तिको क्षीण और दुर्बल कर देनेकी ओर,—सब केन्द्रमें करनेवाली चेष्टासे ही इस प्रकारका झुकाव अवश्यम्भावी था। इसका परिणाम यह हुआ था कि जभी केन्द्रोंकी शक्ति दुर्बल हो जाती, तभी भारतके जातीय जीवनकी मूलतः प्रयोजनीय प्रादेशिक स्वा-तंत्र्यकी पुरातन नीति फिरसे सिर उठा-कर कृत्रिम भावसे प्रतिष्ठित ऐक्यको क्षुण्ण कर देती थी। किन्तु इसके द्वारा जो होना चाहिये था, समूचे जातीय जीवनके गम्भीर

सामंजस्य-साधनमें तथा अधिकतर मुक्त अथच ऐक्य-बद्ध क्रिया-में सहायक होनेमें वह ऐसा हो पाती। साम्राजिक राजतंत्रने स्वाधीन जातीय सभाओंकी शक्तिका भी ह्रास कर दिया था। उसके फलसे मूल साम्प्रदायिक स्वातंत्र अनुष्ठानोंने ऐक्य-बद्ध शक्ति-का अंग न होकर आपसमें विच्छिन्न हो भेदकी सृष्टि की थी। ग्राम-समाजने (Village Community) अपनी सजीव शक्तिको बहुत-कुछ कायम रक्खा था, किन्तु उच्च पदाधिकारियोंके साथ उसका कोई सजीव सम्बन्ध नहीं था। वह ग्राम-समाज विशाल जातीयताका ज्ञान खोकर जो कोई देशी या विदेशी शासन अपने संकीर्ण जीवनका सम्मान करता, उसीको स्वीकार कर लेनेके लिए प्रस्तुत था। धर्म-संघोंमें भी इसी तरहका भाव आ गया था। जाति-भेद किसी प्रकृत प्रयोजनके अतिरिक्त अथवा देशके आध्यात्मिक या अर्थनीतिक प्रयोजनके साथ किसी तरहके सम्बन्ध-के अतिरिक्त संख्यामें बढ़कर केवल अलंघ्य आचार-मूलक विभागमें परिणत हो गया। इस प्रकार उससे देशमें केवल भेद और विरोधकी ही सृष्टि हुई, पहलेकी भाँति वह समूचे जातीय जीवनकी सुसमंजस क्रियाका अंग-स्वरूप नहीं रह गया। यह बात सच नहीं है कि, प्राचीन भारतमें जाति-विभाग देशके मिलित जीवनका शत्रु था, अथवा परवर्त्ती कालमें भी वह साक्षात् रूपसे राजनीतिक द्वन्द्व या अनैक्यकी सृष्टि करता था (यद्यपि अन्तिम कालमें, अधःपतनके अन्तिम युगमें, खासकर महाराष्ट्र संगठनके अन्तिम भागमें यही घटित हुआ था), किन्तु वास्तवमें वह समाजमें भेद-वैषम्यकी सृष्टि करने तथा मुक्त और सजीव भावसे ऐक्य-बद्ध जातीय जीवनके पुनर्गठनके शत्रुकी सृष्टि

करनेकी गौण शक्ति होकर खड़ा था।

व्यवस्थाका आनुषंगिक दोष मुसलमानी आक्रमणके पहले-तक विशेष रूपसे प्रकाशित नहीं हुआ था, किन्तु सूत्रपातके रूपमें वह पहलेहीसे वर्त्तमान था, तथा पठान और मुगल साम्राज्यके द्वारा जिन अवस्थाओंकी सृष्टि हुई थी, उनमें उसने बहुत वृद्धि पायी थी। यह सब उत्तरकालीन साम्राजिक अनुष्ठान कितना ही शक्तिशाली क्यों न रहा हो, उसका स्वरूप स्वैराचारमूलक था, स्वच्छन्द आचार-मूलक (autocratic) था और उसमें पूर्ववर्त्ती साम्राज्योंकी अपेक्षा और भी अधिक परिमाणमें केन्द्रानुवर्त्तिताका दोष आ गया था। कृत्रिम ऐक्य-साधनकी व्यवस्थाके प्रति भारतके प्रादेशिक जीवनकी इस एक ही विरोधिताके फलसे वह बारम्बार टूट जाया करता था, तथा जातिके जीवनके साथ उसका कोई सत्य, सजीव योग न रहनेसे वह साधारण देशात्म-बोधकी सृष्टि नहीं कर सका जो विदेशियोंके आक्रमणोंसे उसकी रक्षा कर सकता। अन्तमें आया है एक यंत्रवत् पाश्चात्य शासन, उसने बचेखुचे साम्प्रदायिक और स्थानीय स्व-तंत्र अनुष्ठानोंको लुप्त कर दिया है तथा उसके बदलेमें यंत्रवत् प्राणहीन ऐक्य स्थापित किया है। किन्तु इसके विरुद्ध प्रतिक्रियामें फिर हम देख पाते हैं वे प्राचीन नीतियाँ फिरसे जाग रही हैं,—जैसे, भारतवासियोंके स्थानीय स्व-तंत्र जीवनकी फिरसे गठनकी ओर प्रवणता, जाति और भाषाके सत्य विभागका अनुयायी प्रादेशिक स्वायत्त-शासनका दावा, राष्ट्र-शरीरके स्वाभाविक जीवनके लिए प्रयोजनीय सजीव अनुष्ठान-रूपमें इस समय लुप्त ग्राम-समाजके आदर्शकी ओर भारतीय मनकी फिर दृष्टि; तथा अब पुनरुज्जीवित न

होते हुए भी, अपेक्षाकृत उन्नत व्यक्तियोंके मनमें आभास रूपमें दिखलायी पड़ना आरम्भ हो रहा है, भारतीय जीवनकी उपयोगी साम्प्रदायिक (Communal) भित्तिके, तथा आध्यात्मिक प्रतिष्ठाके ऊपर भारतीय समाज और राष्ट्रको नवीन और पुनर्गठित करनेका और भी सत्य आदर्श।

अतएव भारतीय ऐक्य-साधनकी चेष्टा जो व्यर्थ हुई थी, तथा उसका परिणाम हुआ था विदेशी आक्रमण एवं अन्ततक पराधीनता, उसका कारण है कार्यकी विशालता और उसका विशिष्ट स्वरूप ; कारण, केन्द्रीभूत साम्राज्यके सरल मार्गका भारतमें कृतकार्य होना सम्भव नहीं था, तथा मनमें हुआ था कि जान पड़ता है यही एकमात्र मार्ग है, एवं बारम्बार इसी ओर चेष्टा भी की गयी थी ; उस चेष्टाकी आंशिक सफलता सामयिक भावसे एवं बहुत समयतक समर्थन करनेपर भी अन्ततक वह कभी भी कृतकार्य नहीं हुई। मैं कह चुका हूँ कि, भारतकी प्राचीन बुद्धिने समस्याके मूल स्वरूपको और भी अच्छी तरहसे समझा था। वैदिक ऋषियों और उनके उत्तराधिकारियोंने भारतीय जीवनकी आध्यात्मिक भित्ति स्थापित करने तथा भारतके अन्तर्गत बहुतसी जातियों (Races) और जन-समाजमें आध्यात्मिक ऐक्य-स्थापन करनेको ही अपना प्रधान काम समझकर उसे ग्रहण किया था, किन्तु वे राष्ट्रनीतिक ऐक्यकी आवश्यकताको भी अच्छी तरह जानते थे। उनलोगोंने देखा था कि, आर्योंके कुल-प्रथा मूलक जीवनकी निरन्तर प्रवृत्ति हो रही है, भिन्न-भिन्न प्रकारके कुल, वंश और राज्य एक दूसरेके साथ सन्धि-सूत्रमें बँध जायँगे तथा सब मिलकर किसीका नेतृत्व स्वीकार कर

लेंगे, इस प्रकार वे साम्राज्यके अधीन दृढ़ताके साथ ऐक्य-बद्ध हो जायँगे। उनलोगोंने समझा था कि, इस प्रवृत्तिका पूर्ण परिणति की ओर अग्रसर होना ही ठीक मार्ग है, तथा इसीलिए उनलोगोंने चक्रवर्त्तीके आदर्शका विकाश किया था। सोचा था कि एक ऐक्य-साधक साम्राजिक शासन समुद्रसे हिमालयतक समूचे भारतके अन्तर्गत बहुतसे राज्यों और जातियोंको (Races) उनकी स्वतंत्रता नष्ट न करके ऐक्य-बद्ध करेगा। इसी आदर्शका उनलोगोंने भारतीय जीवनके अन्यान्य विषयोंके समान ही धर्म और आध्यात्मिकताके द्वारा समर्थन किया था, तथा इसी आदर्शको कार्य-रूपमें परिणत करना शक्तिशाली राजाओंके लिए धर्म कहकर, राजकीय और आध्यात्मिक कर्त्तव्य कहकर निरूपण किया था। वह धर्म उसे उसके अधीनस्थ जन-समूहकी स्वाधीनता नष्ट न करने देता, उसके राजवंशको सिंहासन-च्युत या ध्वंस करने अथवा उनके कर्मचारियोंके स्थानपर अपने कर्मचारियों और प्रतिनिधियोंको आज्ञा करने न देता। उसका काम था एक ऐसे ऊँचे आधिपत्यकी स्थापना करना जो सामरिक शक्तिसे देशमें शान्ति-रक्षा करनेमें समर्थ हो तथा आवश्यकता पड़नेपर देशकी समूची शक्तिको एकत्र कर सके। इस पहले कर्त्तव्यके साथ एक आदर्श और जुड़ा हुआ था। वह यह कि एक प्रबल ऐक्य-साधक शक्तिके अधीन भारतीय धर्मका, भारतके आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और सामाजिक जीवनका संरक्षण और पूर्ण विकाश हो।

इस आदर्शका पूरा रूप हम रामायण और महाभारतमें देख पाते हैं। महाभारतमें इसी प्रकारके एक साम्राज्य-स्थापनकी

चेष्टाकी, धर्म-राज्य-स्थापनकी चेष्टाकी काल्पनिक, अथवा हो सकता है कि ऐतिहासिक कहानी है। वहाँ आदर्शको ऐसा अवश्य पालन करने योग्य और बहुजन स्वीकृत कहकर चित्रित किया गया है कि शिशुपालके समान उच्छृङ्खल राजाने भी अधीनता स्वीकार करके युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें यही समझकर योगदान किया था कि युधिष्ठिर जो काम कर रहे हैं वह धर्मको ही आज्ञा है। और रामायणमें हम देखते हैं इसी प्रकारके धर्म-राज्यका, एक सुप्रतिष्ठित सर्वव्यापी साम्राज्यका आदर्श चित्र। यहाँ भी वह स्वेच्छाचारी स्वैर-शासन नहीं, बल्कि राजधानीकी, प्रदेशोंकी, तथा सब श्रेणीकी प्रतिनिधि-स्वरूप स्वाधीन जन-सभाद्वारा समर्थित सार्व-भौम राजतंत्र था। वह भारतीय व्यवस्थानुयायी साम्प्रदायिक स्वतंत्र अनुष्ठानोंका समन्वय-साधक एवं धर्मकी नीति और विधान-रक्षक राजतंत्र स्टेटका ही परिवर्द्धित रूप था। जिस विजयका आदर्श प्रदर्शित हुआ है, वह विजितोंकी सजीव स्वाधीनताका अपहरण करनेवाला, उनके राष्ट्रीय और सामाजिक अनुष्ठानोंको लोप करनेवाला तथा उनकी अर्थ-नीतिक सम्पत्तिका शोषण करनेवाला ध्वंसकारी लुटेरा आक्रमण नहीं था; बल्कि वह एक यज्ञीय यात्रा (Sacrificial progression) थी, उसमें जो शक्तिकी परीक्षा होती, उसका फलाफल सबलोग सहजहीमें मान लेते; कारण, पराजयके फलसे अवज्ञा, दासत्व या कष्टकी सम्भावना नहीं थी; केवल जो विजयी शक्तिका एकमात्र लक्ष्य जातिका और धर्मका प्रकाश्य ऐक्य-साधन था उसीकी अनुगततामात्र स्वीकार करनी पड़ती। प्राचीन ऋषियोंका आदर्श और उनका उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट था। जान

पड़ता है कि देशके विच्छिन्न और कलह-रत जन-समूहको ऐक्य-बद्ध करनेकी सामरिक और राष्ट्रनीतिक आवश्यकताका उन्हें बोध हुआ था, किन्तु उन्हें यह भी भान हुआ था कि प्रदेशोंके स्व-तंत्र जीवन या विभिन्न सम्प्रदायोंकी स्वाधीनता क्षुण्ण करके इस ऐक्यका साधन करना उचित नहीं, इसलिए केन्द्रीभूत राजतंत्र अथवा चखाचखी भावसे ऐक्य-मूलक साम्राजिक स्टेटके द्वारा भी उचित नहीं। उनलोगोंने देशवासियोंके मनमें जिस आदर्श-की सृष्टि करनेका इरादा किया था, पाश्चात्य देशोंमें उस आदर्श-का निकटतम सादृश्य-स्वरूप हो रहा है एक साम्राजिक आधिपत्यके अधीन भिन्न-भिन्न जाति और राज्यका सम्मेलन, "a hegemony or confederacy under an imperial head."

इस आदर्शको कार्य-रूपमें परिणत करना कभी भी सम्भव हुआ था, इसका कोई भी ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है; यद्यपि पौराणिक किम्वदन्ती यही है कि युधिष्ठिरके धर्म-राज्यके पहले भी इस प्रकारका राज्य कई बार स्थापित हुआ था। बुद्धके समयमें तथा बादको चन्द्रगुप्त और चाणक्य जिस समय भारत-का प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य गठन कर रहे थे, उस समय भी देश स्वाधीन राज्य और गणतंत्रसे पूर्ण था, एवं अलेकजेंडर (सिकन्दर) के आक्रमणका तिरस्कार करनेके समान कोई ऐक्य-बद्ध साम्राज्य वर्त्तमान नहीं था। यही जान पड़ता है कि पहले यदि कभी चक्रवर्त्तित्व प्रतिष्ठित हुआ भी हो, तो उसको स्थायी करनेकी व्यवस्था या प्रणाली आविष्कृत नहीं हुई थी। यदि समय दिया होता तो सम्भवतः उसका विकाश हो सकता,—

किन्तु उसमें एक महान परिवर्त्तन घटित होता है, जिससे शीघ्र कोई समाधान करना नितान्त आवश्यक हो जाता है। भारतकी इतिहास-प्रसिद्ध दुर्बलता हो रही है उसकी उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्तोंकी भेद्यता, जो कि आधुनिक कालतक उसी तरह है। जितने दिनोंतक प्राचीन भारत सिन्धनद पार करके बहुत दूरतक विस्तृत था, तथा शक्तिशाली गान्धार और वाह्लिक राज्य-द्वय विदेशी आक्रमणोंके विरुद्ध अजेय दुर्ग-स्वरूप खड़े थे, उतने दिनोंतक इस दुर्बलताका जरा भी अस्तित्त्व नहीं था। किन्तु संघ-बद्ध फारस साम्राज्यके आक्रमणसे वह टूट गया, और उसी समयसे बराबर सिन्धनदके उस पारके सब देश भारतके हाथसे निकलते गये और उसके अन्तर्गत नहीं रह गये। इसीसे वे भारतके रक्षक-स्वरूप न रहकर क्रमशः प्रत्येक आक्रमणकारीके निरापद खड़ा होनेके स्थानमें परिणत हो गये। अलेकजेंडर (सिकन्दर) के आक्रमणने भारतके राष्ट्रनीतिक मनको संकटके गुरुत्त्वके सम्बन्धमें विशेष रूपसे सजग कर दिया, एवं उसी समयसे हम देखते हैं कि, कवियों, लेखकों, राष्ट्रनीतिक चिन्ताशील व्यक्तियोंने साम्राज्यके आदर्शका सर्वदा प्रचार किया है, अथवा किस उपायसे उसको कार्यरूपमें परिणत किया जा सकता है इस विषयमें गवेषणा की है। कार्यतः इसका अव्यवहित (व्यवधान-रहित) फल हुआ चाणक्यकी राष्ट्र-नीतिक प्रतिभाद्वारा आश्चर्यजनक क्षिप्रता या शीघ्रताके साथ गठित साम्राज्यका अभ्युदय ; बीच-बीचमें दुर्बलता तथा अन्तर्निहित नाशके बीजोंके रहते हुए भी वह साम्राज्य आठ-नौ सौ वर्षसे क्रमशः मौर्य, सुंग, कानोआ, अन्ध्र और गुप्तवंशके

द्वारा रक्षित था फिरसे प्रतिष्ठित हुआ था। इस साम्राज्यका, इसके अपूर्व संगठनका, कार्य-निर्वाहक पद्धतिका, जन-हितकर अनुष्ठानका, समृद्धि एवं इसके आश्रित देशवासियोंके तेज-विक्रम, श्री, और अपूर्व सृष्टि-शक्ति-पूर्ण जीवनका इतिहास केवल इतस्ततः (यहाँवहाँ) विक्षिप्त अपूर्ण निदर्शनोंमें पाया जाता है। किन्तु ऐसा होनेपर भी इसे पृथिवीकी महान जातियोंकी प्रतिभा-द्वारा गठित और संरक्षित महान साम्राज्योंमें ही स्थान दिया जाता है। साम्राज्यके गठनमें प्राचीनकालमें भारतने जो कुछ किया था, उसके लिए उसे गर्व न करनेका कोई कारण नहीं है, अथवा जो लोग मूर्खता वश हठात् मत प्रकट कर बैठते हैं कि, भारतकी प्राचीन सभ्यतामें समर्थ व्यावहारिक प्रतिभा या उच्च राष्ट्रनीतिक दक्षता नहीं थी, उनकी बातसे सिर झुकानेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है।

हाँ यह ठीक है कि, एक निकट प्रयोजनको मिटानेके लिए इस साम्राज्यके प्रारम्भिक गठनमे जिस व्यस्तता, जोर-जबर्दस्ती और कृत्रिमताका अवलम्बन करना अपरिहार्य हुआ था, उसका फल भी उसे भोगना पड़ा था। कारण, उसके लिए वह प्राचीन भारतीय प्रथाके अनुसार सुदृढ़ रूपसे भारतके अत्यन्त गम्भीर आदर्शका सुचिन्तित, स्वाभाविक और सुनियंत्रित विकाश नही हो सका। एक केन्द्रगत साम्राजिक राजतंत्र स्थापनकी चेष्टाका परिणाम यह हुआ था कि, स्थानीय स्व-तंत्र अनुष्ठान नष्ट हो गये थे, उनका सजीव समन्वय साधित नहीं हुआ। यद्यपि भारतीय नीतिके अनुसार उनके आचार और अनुष्ठानका सम्मान किया जाता था, तथा पहले-पहल उनके

राष्ट्रनीतिक अनुष्ठानोंको भी अन्ततः अनेक क्षेत्रोंमें ही, पूर्ण रीतिसे नष्ट नहीं कर दिया गया था, बल्कि साम्राजिक व्यवस्थाके ही अन्तर्गत कर लिया था, तथापि वे केन्द्रानुगतताकी छायामें वस्तुतः सजीव और सतेज नहीं रह सके। प्राचीन भारतकी स्वाधीन जातियाँ अदृश्य होने लगीं, जिनके भग्नावशेषसे ही बादको वर्त्तमान भारतीय जातियाँ (Indian reces) पैदा हुईं। और मेरा अनुमान है कि सबके निचोड़के ऊपर यह सिद्धान्त किया जा सकता है कि, यद्यपि प्राचीन जातीय सभाएँ बहुत दिनोंतक सतेज थीं, पर अन्तमें उनकी क्रियाएँ यंत्रवत् कृत्रिम हो गयीं, तथा उनकी जीवनी शक्ति ह्रास-प्राप्त और क्षुण्ण होने लग गयी। नागरिक रिपब्लिक् भी क्रमशः संहृत या मिलित राज्य अथवा साम्राज्यकी केवल म्युनिस्पैलिटीमें परिणत हो गया। साम्राजिक केन्द्रीकरण तथा पूर्वकालीन उच्च स्वाधीन जातीय सभाओंके दुर्बल और लुप्त होनेके फलसे जिस मनोभाव और संस्कारका जन्म हुआ, उससे एक आध्यात्मिक व्यवधान या आच्छादनके समान सृष्टि हुई,—इस ओर प्रजा जो कोई गवर्नमेंट उसके निरापदताकी व्यवस्था करती एवं उसके धर्म, जीवन, आचार, व्यवहारके ऊपर अत्यधिक हस्तक्षेप न करती, उसीसे सन्तुष्ट होकर रहने लगी; और दूसरी ओर था साम्राजिक शासन, इसमें सन्देह नहीं कि वह हितकारी और गौरवान्वित था, किन्तु भारतकी प्राचीन और सत्य राष्ट्रनीतिक बुद्धिने स्वाधीन और प्राणमय जातियोंके मस्तक-स्वरूप जो सजीव अनुष्ठानकी कल्पना की थी उसका अस्तित्व नहीं रह गया। यह सब परिणाम अवनतिके साथ-साथ स्पष्ट हुआ और चरम सीमा-

पर पहुँचा ; किन्तु बीज-रूपसे वह सब समयोंमें वर्तमान था, तथा ऐक्य-साधनके लिए यांत्रिक प्रणालीका अवलम्बन करनेसे वह एक प्रकारसे अवश्यम्भावी ही हो उठा था। सुविधाके अनुसार हुआ था अधिकतर शक्तिमान और दृढ़ सामरिक उद्योग, तथा अधिकतर नियमित और समभावापन्न शासन-क्रिया, किन्तु जिस स्वाधीन प्राणमय विचित्रतापूर्ण जीवनसे जातिके मन और प्रकृतिका सत्य प्रकाश होता है, उसके क्षुण्ण हो जानेसे इन सबके द्वारा अन्ततक उस क्षतिकी फिर पूर्ति नहीं हुई।

और भी अशुभ एक परिणाम हुआ था धर्मका ऊँचे आदर्शसे पतन। राज्यके साथ राज्यके प्रभुत्वके लिए द्वन्द्वमें प्रवृत्त रहनेसे, कूट राजनीति-(Machiavellian Staecraft) के अभ्यासने पहलेके महान नैतिक आदर्शोंका स्थान ग्रहण कर लिया ; उच्छृंखलता-पूर्ण विजयाकांक्षाको दमन करनेके समान कोई आध्यात्मिक या नैतिक रुकावट नहीं रह गयी ; राजनीति और शासननीतिसे जातिका मन बहुत-कुछ रूढ़ और नीच हो गया; मौर्ययुगके कठोर दंड-विधानोंसे तथा अशोकके उड़ीसा-विजयमें नृशंस रक्तपातसे ही इसका परिचय पाया गया था। यह अवनतिकी गति धर्मभाव और ऊँची बुद्धिमत्ताके द्वारा रुँधी रहनेके कारण और भी प्रायः एक हजार वर्षतक चरम-सीमापर नहीं पहुँच सकी ; इसका पूर्ण वेग हम देख पाते हैं केवल पूर्ण अधःपतनके युगमें ; उस समय आपसमें बे-रोकटोक आक्रमण, राजा और नेताओंकी उच्छृंखल अहंमन्यता, राष्ट्रनीतिक बुद्धिका एवं कार्य करनेवाले भावसे ऐक्यबद्ध होनेकी शक्तिका बिलकुल अभाव, साधारण देश-प्रेमका अभाव, तथा कौन

राजा गया और कौन राजा हुआ, इस विषयमें जन-साधारणकी अत्यन्त उदासीनता, इन सबने विराट देशको समुद्र पारसे आये हुए मुट्ठीभर बनियोंके हाथमें सौंप दिया। किन्तु अन्तिम उपसर्ग कितनी ही मन्थरगतिसे क्यों न आये हों, तथा पहले-पहल साम्राज्यका राष्ट्रनीतिक महत्व, देशकी सभ्यतामें अपूर्व शिक्षा-दीक्षा और शिल्प-वाणिज्य एवं बारम्बार आध्यात्मिक अभ्युत्थानने उन सबको कितना ही संशोधित और निवारित क्यों न किया हो, अन्तिम गुप्त राजाओंके समयमें ही भारत अपने अधिवासियोंके राष्ट्रनीतिक जीवनमें उसके सत्य मन और भीतरी आत्माके स्वाभाविक और पूर्ण विकाशकी सम्भावना खो बैठा था।

जो प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए साम्राज्यकी रचना हुई थी, इतने दिनोंमें पूर्ण रूपसे न होते हुए भी यथेष्ट भावसे सिद्ध करनेमें वह समर्थ हुआ था। वह प्रयोजन था भारतकी जमीन और भारतीय सभ्यताकी बर्बर जातियोंके उन विराट उथल-पुथल करनेवाले आक्रमणोंसे रक्षा करना जो प्राचीन सभ्यताको निगलनेके लिए काल-स्वरूप होकर खड़े थे, तथा जिनके विरुद्ध उच्च विकशित ग्रीको-रोमन सभ्यता और विशाल तथा शक्ति-शाली रोमक साम्राज्य भी अन्ततक खड़ा होनेमें समर्थ नहीं हुआ। उस उपद्रवसे ट्यूटन, स्लाव्, हूण और शकोंको असंख्य सेनाको पश्चिम, पूरब, दक्खिन दिशासे हटा दिया था, कई शताब्दतक बारम्बार भारतके दरवाजेपर भयंकर आघात किया था, कभी-कभी भीतर घुसनेमें समर्थ हुआ था, किन्तु जब वह विषादयुक्त हो उठा, वह भारतीय सभ्यातके महान राज-प्रासाद-(सौध) को खड़ा ही रखा गया; वह उस समय भी

सुदृढ़, महान और निरापद था। भारतमें वे प्रवेश करनेमें तभी समर्थ होते थे जब साम्राज्य दुर्बल हो उठता था। अनुमान होता है कि देशके कुछ दिनोंतक निरापद रहनेपर ही यह घटित होता था। जिस प्रयोजनसे साम्राज्यका जन्म हुआ था, उसका अभाव होते ही वह दुर्बल हो जाता था; कारण, उस समय प्रादेशिक स्वातंत्र्य ज्ञान फिर जागृत होकर पृथक होनेका आन्दोलन आरम्भ करता था, उसके फलसे साम्राज्यके भीतरका ऐक्य नष्ट हो जाता, अथवा उत्तर देशमें उसका विशाल विस्तार न रह जाता। कोई नयी आफत आनेपर, किसी नये वंशके अधीन होनेपर वह बलवान हो जाता था; किन्तु इस प्रकारको बारम्बार घटना हुई थी संकटके चिरकालके लिए लुप्त होनेसे। उस संकटका निवारण करनेके लिए जिस साम्राज्यकी सृष्टि हुई थी वह भी लुप्त हो गया। उस समय उसका अवशिष्ट रह गया पूरब, दक्खिन और मध्यदेशमें कई महान शक्तिशाली राज्य तथा उत्तर-पश्चिममें रह गया अपेक्षाकृत विशृंखल जन-समूह। इसी दुर्बल भागको मुसलमानोंने आकर भेद किया और थोड़े दिनोंके भीतर ही उत्तर देशमें उसी प्राचीन साम्राज्यको फिर गठित किया।

इन सब विदेशी आक्रमणों तथा इनके फलाफलका प्रकृत गुरुत्व क्या है, यह हिसाब करके देखना होगा। कारण, प्राच्य-विषयक गवेषकोंके अतिरंजित मतवाद (theory) द्वारा अनेक समयमें भ्रान्ति पैदा हो जाती है। अलेकजेंडरका आक्रमण था वस्तुतः प्राचीन ग्रीक सभ्यता-(Hellenism) का पूरबमुखी विस्तार। पश्चिम और मध्य एशियामें उसका कुछ काम बाकी रह गया था, किन्तु भारतमें उसका कोई भी भविष्य नहीं था।

साथ-ही-साथ चन्द्रगुप्तसे वहिष्कृत किया जानेपर उसका कोई भी निशान वर्तमान नहीं रह गया। परवर्ती मौर्योंकी दुर्वलताके समय ग्रीको बैक्ट्रियनोंका (Graeco Bactrians) जो अभियान भारतमें प्रवृष्ट हुआ, तथा साम्राज्यकी फिरसे उत्पन्न शक्तिके द्वारा पराजित हुआ, वह इस प्रकारकी एक ग्रीक सभ्यता प्राप्त जातिका अभियान था जो इससे पहले ही भारतीय बुद्धिद्वारा गम्भीर भावसे प्रभावान्वित हुआ था। बाद पर्शियन, हूण और शकोंका जो आक्रमण हुआ वह और भी गुरुतर था। कुछ समयके लिए आशंका हुई थी कि कदाचित वह भारतकी विशिष्ट सभ्यताके लिए संकटजनक होगा; किन्तु अन्ततक वे केवल पंजाबको ही प्रवल रूपसे प्रभावान्वित करनेमें समर्थ हुए थे, यद्यपि उन्होंने अपनी तरंगको पश्चिमके उपकूलसे और भी दक्खिनकी ओर प्रेरित किया था, तथा वहुत दूर दक्खिनमें कुछ कालके लिए विदेशी राजवंश भी प्रतिष्ठित होकर रह सकता था। किन्तु इन स्थानोंमें जनताकी जातिगत प्रकृति कितनी परिवर्त्तित हुई थी, वह पहले निश्चय करके नहीं कहा जा सकता। प्राच्यके सम्बन्धमें गवेषणा करनेवाले पंडितों तथा नर-विज्ञानविद् व्यक्तियोंने कल्पना की है कि, पंजाव शक-जातिमें परिणत हो गया। राजपूतलोग शकोंके ही वंशधर हैं, यहाँ-तक कि, और भी दक्खिनमें इस आक्रमणके द्वारा जाति परि-वर्त्तित हो गयी थी। ये सारी कल्पनाएँ विलकुल अपर्याप्त या प्रमाणके ऊपर प्रतिष्ठित नहीं हैं, इनके विरुद्ध अन्यान्य थ्योरी (theory) या मत भी हैं। यह वड़े ही सन्देहका विषय है कि, आक्रमणकारी इतनी अधिक संख्यामें आये थे जिससे इस प्रकार

गुरुतर परिवर्तन संघटित हो सकता है। और यह भी असम्भव प्रतीत होता है इसलिए कि दो तीन पुरुषोंमें ही ये सब आक्रमणकारी दल पूर्ण रीतिसे भारतीय भावापन्न हो गये थे, पूर्ण रीतसे भारतका धर्म, आचार-व्यवहार ग्रहण कर सके थे तथा भारतीय जन-साधारणके साथ मिल गये थे। रोमक साम्राज्यके अन्तर्गत देश-समूहमें जैसा हुआ था वैसा भारतमें बर्बर जातियाँ एक महान सभ्यताके ऊपर अपने कानून, राष्ट्र-व्यवस्था, बर्बर आचार-व्यवहारका भार लाद देनेमें समर्थ नहीं हुईं। इन सब आक्रमणोंका यह साधारण तथ्य विशेष प्रयत्न योग्य था। इसका तीन कारण निर्देश किया जा सकता था। आक्रमणकारियोंका सम्भवतः सैन्य दलमात्र था, जन-समूह नहीं था। विदेशी शासन-रूपसे उनका अधिकार पहले-पहल बहुत दिनोंतक स्थायी न हो पानेके कारण उनका विजातीय रूप दृढ़ नहीं हो सका था। कारण प्रत्येक आक्रमणके बाद ही भारतीय साम्राज्य फिर सबल हो उठता था, तथा शेषतः, भारतीय बुद्धि ऐसे सतेज भावसे प्राणमय और ग्रहणशील थी कि आक्रमणकारियोंकी ओरसे किसी प्रकार भी मानसिक बाधा सांगीकरणकी प्रक्रियाको निराश नहीं किया जा सका था। जो हो, यदि ये सब अभियान खूब गुरुतर हैं, तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतीय सभ्यताने अपेक्षाकृत तरुण ग्रीको-रोमन सभ्यताकी अपेक्षा अधिकतर प्राणशक्ति और दृढ़ताका परिचय दिया था। ग्रीको-रोमन सभ्यता ट्यूटन और अरबोंके आक्रमणसे धूलमें मिल गयी थी, अथवा नीचे गिरकर किसी प्रकार आत्मरक्षा कर सकी थी; बर्बरताके द्वारा अत्यन्त प्रभा-

वित और निष्पेषित होकर वह ऐसी हीन दशाको प्राप्त हुई थी कि वह पहचानी नहीं जाती थी। और यह भी स्वीकार करना होगा कि, रोमक साम्राज्य कितनी ही दृढ़ता और महत्त्वका गर्व क्यों न करें, भारतीय साम्राज्यने कार्यतः उसकी अपेक्षा अधिकतर दक्षताकी प्रमाण दिया था; कारण, पश्चिमप्रान्तमें विद्ध होनेपर भी भारत उपद्वीपके भागको निरापद रखनेमें समर्थ हुआ था।

बादको जो अधःपतन हुआ, अरबोंके द्वारा मुसलमानोंका आक्रमण सफल न होकर बहुत दिनोंके बाद फिर वह चेष्टा हुई तथा सफलता हुई। इसका जो परिणाम हुआ, वही भारतवासियोंकी योग्यताके सम्बन्धमें सन्देहका अवसर देता है। किन्तु यहाँ बहुतसी प्रचलित भूल धारणाओंके निरसन या निराकरण करनेकी आवश्यकता है। यह पराजय ऐसे समयमें घटित हुआ था जब प्राचीन भारतीय जीवन और बुद्धिकी प्राणशक्ति दो हजार वर्षतक अपूर्व कर्म-परायणता और सृष्टिकुशलताका परिचय देनेके बाद उसीके बीच सामयिक रूपसे अवसन्न हो गयी थी, अथवा अवसन्नताके बिलकुल निकट पहुँच गयी थी, तथा संस्कृत भाषासे जनसाधारणकी भाषामें एवं नवोत्थित या नवीन उत्पन्न प्रादेशिक जातियोंमें लाकर उसे फिरसे जीवित करनेके लिए कुछ निःश्वास छोड़नेके समय आवश्यकता हुई थी। भारतके उत्तरी अंचलमें मुसलमानोंकी विजय बहुत तेजीसे हुई थी, यद्यपि उसके पूर्ण होनेमें कई शताब्द लग गये थे; किन्तु दक्खिन देशने इसके पहले जिस तरह देशी साम्राज्यके विरुद्ध अपनी स्वाधीनताको बचा रक्खा था, इस मुसलमानी साम्राज्यके विरुद्ध भी उसी तरह वह बहुत

दिनोंतक उसे बचानेमें समर्थ हुआ था। और फिर विजयनगर राज्य-ध्वंसके बाद महाराष्ट्रोंका अभ्युत्थान होनेमें भी अधिक समय नहीं लगा था। राजपूतोंने अकबर और उसके उत्तराधिकारियोंके समयतक अपनी स्वाधीनताको अक्षुण्ण (अचूर्णित) रक्खा था, अन्त समयमें मुगल उनके कई राजपूत मंत्रियों और सेनापतियोंकी सहायताके जोरसे ही पूरब और दक्खिनमें अपना आधिपत्य पूर्ण रीतिसे स्थापित करनेमें समर्थ हुए थे। और यह भी जो सम्भव हुआ था उसका कारण यह था— यह बात प्रायः भूल जानी चाहिये—मुसलमानी शासन बहुत थोड़े दिनोंतक विदेशी शासन था। इस देशके अधिकांश मुसलमान जातिमें भारतीय थे तथा अब भी हैं,—केवल पठान, तुर्की और मुगल रक्तका साधारण मिश्रण हुआ है; और विदेशसे आये हुए राजा और सम्भ्रान्त व्यक्ति भी बहुत शीघ्र मन, प्राण और स्वार्थमें भारतीय हो गये थे। यदि भारतवासी वास्तवमें यूरोपके अनेक देशोंके समान शताब्दोंसे विदेशी शासनके अधीन निश्चेष्ट, सम्मत और निरुपाय होकर पड़े रहते तो वह निःसन्देह जातिकी अन्तर्निहित महान दुर्बलताका प्रमाण होता; किन्तु वस्तुतः बृटिश-शासन ही पहला विदेशी शासन और पहले-पहल भारतमें आधिपत्य कर रहा है। प्राचीन सभ्यता मध्यएशियासे आये हुए धर्म और पांडित्यके साथ सम्मिलित न हो सकनेके कारण म्लान और क्षुण्ण हुई थी इसमें सन्देह नहीं, किन्तु उस दबावको हटाकर वह उठनेमें समर्थ हुई थी, उसके ऊपर उसने कई ओरसे अपने प्रभावका विस्तार किया था, एवं हमलोगोंके समयतक अवनत अवस्थामें होते हुए भी वह जीविति रही है फिरसे

अभ्युत्थित होनेमें समर्थ रही है। इस भावसे उसने जिस शक्ति और उत्कर्षताका परिचय दिया है, वह मानव-सभ्यताके इतिहासमें दुर्लभ है; और राष्ट्रनीतिक क्षेत्रमें उच्च शक्तिशाली राजा, राजनीतिज्ञ योद्धा और शासनकर्त्ताका अभ्युत्थान करनेमें वह कभी भी निरत नहीं हुई। अवनतिके युगमें उसकी राष्ट्रनीतिक प्रतिभा इतनी पर्याप्त नहीं थी, इतनी दृढ़ तथा दृष्टिमें और कर्ममें तत्पर नहीं थी, जिससे पठानों, मुगलों और यूरोपियनोंके आक्रमणोंको रोका जाता; किन्तु उन आघातोंको सहन करने तथा फिरसे अभ्युत्थानका प्रत्येक सुयोग ग्रहण करनेमें वह समर्थ थी, राणा सुंगके नायकत्वमें उसने साम्राज्य-गठनका प्रयास किया था, महान शक्तिशाली विजयनगर राज्यकी सृष्टि की थी, राजपूतानेकी पर्वतमालाओंमें शताब्दोंसे मुसलमानोंके विरुद्ध अपनी प्रतिष्ठा कायम रक्खी थी, अत्यन्त दुर्दशाके दिनोंमें भी प्रबल मुगल सम्राटकी समूची शक्तिके विरुद्ध खड़ी होकर शिवाजीके राज्यका गठन किया था, और उसकी रक्षा की थी, महाराष्ट्र समवाय या समूह (Mahratta Confederacy) और सिख खालसा (Sikh Khalsa) गठन किया था, विशाल मुगल साम्राज्यकी नीवको हिला दिया था तथा फिरसे साम्राज्य-गठनकी एकवार अन्तिम चेष्टा की थी। जिस चरम अधःपतनका आरम्भ हुआ है, चारो ओर वर्णनातीत अन्धकार, फूट (अनैक्य), विश्रृंखलाका बोलबाला हुआ है, उसके बीचमें भी वह रणजीतसिंह और नानाफड़नवीसका अभ्युत्थान करके इंगलैंडकी भाग्य-लक्ष्मीकी अवश्यम्भावी जय-यात्रामें बाधा देनेमें वह भारतीय सभ्यता समर्थ हुई थी। मूल समस्याको ठीक तरहसे देखने और उसका समा-

धान करनेकी अयोग्यता और नियतिने बारम्बार जो प्रश्न उठाया है उसका अच्छा उत्तर देनेकी अयोग्यताके सम्बन्धमें जो अभियोग लगाया जा सकता है, अवश्य ही इन ऐतिहासिक तथ्योंके द्वारा उस अभियोगका गुरुत्व तनिक भी कम नहीं होता ; किन्तु यदि विवेचन करके देखा जाय कि यह सब अवनतिके युगकी घटनाएँ हैं, तो उसका एक ऐसा आश्चर्य-जनक इतिहास है, जिसकी तुलनाका इतिहास अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलेगा, तथा संसारमें जो अज्ञतावश लोग कह बैठते हैं कि भारत चिरकालसे पराधीन और राष्ट्रनीतिक व्यापारमें अयोग्य है, उसके बदले सब प्रश्न एक बिलकुल नये प्रकाशमें दिखलायी पड़ने लगता है।

मुसलमानोंकी विजयके द्वारा जो समस्या उठी थी, वह वस्तुतः विदेशोकी पराधीनता तथा उससे मुक्त होनेकी समस्या नहीं थी, वह समस्या थी दो सभ्यताके द्वन्द्वकी ; उनमें एक तो प्राचीन और देशीय सभ्यता थी और दूसरी मध्ययुगीय तथा बाहरसे आयी हुई थी। समस्या न समाधान करने योग्य हो उठी थी इसलिए कि दोनोंहीके साथ लगा हुआ था,—एक शक्तिशाली धर्म। एक तो युद्ध-प्रिय और आक्रमणशील थी और दूसरी आध्यात्मिकताके पहलूसे सहनशील और स्तुत्य होते हुए भी अपनी विशेषताके प्रति दृढ़ निष्ठा-पूर्ण तथा सामाजिक आचार-व्यवहारकी दुर्भेद्य प्राचीरके अन्तरालमें आत्म-रक्षा-परायण थी। समस्याका समाधान दो तरहसे हो सकता था ; एक ऐसे महान अध्यात्म-तत्त्वके अभ्युत्थानसे जो दोनोंके बीच समन्वय-विधान कर सकता, अथवा ऐसे राष्ट्रनीतिक देश-प्रेमके विकाशसे जो धर्मको द्वन्द्वसे पार करके दोनों सम्प्रदायोंके बीच

एकताका साधन कर सकता। पहला समाधान उस युगमें असम्भव था। मुसलमानोंकी ओरसे अकबरने यह चेष्टा की थी, पर उसका धर्म था वस्तुतः मानसिक बुद्धिकी सृष्टि, राष्ट्रनीतिसे उत्पन्न ; वह आध्यात्मिक सृष्टि नहीं थी, तथा ऐसी सम्भावना नहीं थी कि दो प्रबल धर्मशील सम्प्रदायोंका मन उस धर्मको कभी भी ग्रहण करेगा। हिन्दुओंकी ओरसे नानकने यह चेष्टा की थी, किन्तु उनका धर्म मूलनीतिसे सार्वजनीन होते हुए भी, कार्यतः वह साम्प्रदायिक होकर खड़ा हुआ था। अकबरने एक साधारण राष्ट्रनीतिक देश-प्रेमकी सृष्टि करनेकी चेष्टा की थी, उस चेष्टाकी भी व्यर्थता पहलेहीसे अवश्यम्भावी थी। उस वांच्छनीय मनोभावकी सृष्टि करनेमें, दोनों सम्प्रदायोंके शक्तिमान पुरुष, राजा और सम्भ्रान्त व्यक्तियोंके भीतरसे दोनों सम्प्रदायोंकी कार्य-कारिणी शक्तिको आकृष्ट करके एक ऐक्य-बद्ध भारत-साम्राज्य गठनके काममें लगाना चाहिये था ; किन्तु मध्य-एशियाके आदर्शसे गठित स्वेच्छाचारी साम्राज्यके लिए ऐसा करना सम्भव नहीं था। देशवासियोंकी सजग रायका लेना आवश्यक था, किन्तु उन्हें विकसित करनेके समान राष्ट्रनीतिक आदर्श और अनुष्ठानके अभावमें वह सक्रिय नहीं हो सका। मुगल साम्राज्य एक अद्भुत और महान राज्य था, उसके गठन और संरक्षणमें असीम राष्ट्रनीतिक प्रतिभा और बुद्धि लगी हुई थी। वह कीर्त्तिमान, शक्तिशाली और प्रजाके हितोंका साधक था। यह भी कहा जा सकता है कि औरंगजेबकी स्वेच्छाचारिता रहते हुए भी वह साम्राज्य धर्मके मामलेमें मध्ययुगके और समसामयिक सब यूरोपीय राज्यों और साम्राज्योंकी तुलनामें कितना

अधिक उदार और सहनशील था उसकी इयत्ता नहीं। उसकी अधीनतामें भारत सामरिक और राष्ट्रनीतिक शक्तिमें, आर्थिक ऐश्वर्यमें तथा कला और पांडित्यके गौरवमें बहुत ऊपर उठा हुआ था। किन्तु पहलेके साम्राज्योंकी तरह या यों कहिये कि उनसे भी अधिक शोचनीय भावसे तथा उस एक ही प्रणालीसे, बाहरी शत्रुओंके आक्रमणोंसे नहीं, बल्कि भीतरी विप्लवके फलसे यह भी छिन्न-भिन्न हो गया था। सामरिक और शासन-मूलक केन्द्रगत साम्राज्यके द्वारा भारतका सजीव राष्ट्रनीतिक ऐक्य-साधन सम्भव नहीं। यद्यपि प्रदेशोंमें नवजीवनका अभ्युत्थान दिखलायी पड़ने लग गया था, पर उस समय यूरोपीय जातियों-के बिना नियंत्रित आगमनसे, तथा देशकी विशृंखल अवस्थाके सुयोग ग्रहणसे, वह सम्भावना बिना पूर्णरीतिसे विकसित हुए ही नष्ट हो गयी थी; पेशवाओंकी असफलता तथा उसके परवर्त्ती अराजकता और अधःपतनकी विषम विशृंखलाने उनको यह सुयोग प्रदान किया था।

भांगनके युगमें दो विशिष्ट सृष्टिके द्वारा भारतकी राष्ट्र-नीतिक प्रतिभाने पुरानी अवस्था-परम्परामें नवजीवनकी नींव डालनेका अन्तिम प्रयास किया था, किन्तु कोई भी कार्यतः समस्याका समाधान करनेके समान उपयुक्त नहीं हो सका। समर्थगुरु रामदासका महाराष्ट्र-धर्मके आदर्शसे अनुप्राणित एवं शिवाजीद्वारा संगठित मराठा-अभ्युत्थान था प्राचीन आदर्श और अनुष्ठानका जो कुछ जाना या समझा जाता है उसीको फिर स्थापित करनेका प्रयत्न। किन्तु प्रारम्भमें अध्यात्म प्रेरणा और प्रजातां-त्रिक शक्तियोंकी सहायता पाते हुए भी वह कृतकार्य नहीं हुआ,

वस्तुतः भूतकालको इसी प्रकार लौटा लानेका सारा प्रयत्न व्यर्थ हो गया। पूर्ण प्रतिभाके होते हुए भी पेशवागण प्रतिष्ठाताकी दृष्टि प्राप्त नहीं कर सके। वे केवल सामरिक और राष्ट्रनीतिक समवाय (Confederacy) की सृष्टि कर सके थे। उनकी साम्राज्य-स्थापनकी चेष्टा सफल नहीं हुई, इसका कारण यह था कि उसके मूलमें प्रान्तीयता थी, वह अपने संकीर्ण विचारोंको छोड़ नहीं सका था, समूचे भारतको ऐक्य-बद्ध करनेके सजीव आदर्शसे विकसित नहीं हो सका था। दूसरी ओर सिख खालसा थे एक आश्चर्य-जनक मौलिक और नवीन सृष्टि; उनकी दृष्टि भूतकालकी ओर नहीं थी, भविष्यकी ओर ही फैली हुई थी। गम्भीर आध्यात्मिक सूचना, धर्मगुरुका नेतृत्व, साम्यतांत्रिक संगठन, इस्लाम और वेदान्तके अत्यन्त गम्भीर सत्यके समन्वय-साधन करनेका प्रथम प्रयत्न, इन सबको लेकर एक विकृत रूप और नवीन अनुष्ठान था मानव-समाजके तीसरे या अध्यात्मकी तहमें प्रवेश करनेका अकाल प्रयास। किन्तु वह आध्यात्मिकता और वाह्य जीवनमें योग-साधक समृद्ध सृष्टिमूलक चिन्ता और योग्यताका विकाश नहीं कर सका। इस प्रकार क्षुण्ण और अपूर्व होनेसे, उस चेष्टाका संकीर्ण प्रान्तीय विचारोंमें ही आरम्भ और अन्त हो गया था, कृच्छ्रता लाभ किया था, किन्तु प्रसारताको शक्ति लाभ नहीं कर सका। जिस अवस्था-परम्पराके भीतर इस प्रकारकी चेष्टा सफल हो सकती, उसका उस समय अस्तित्व ही नहीं था।

उसके वाद आया रातका अन्धेरा। सब राष्ट्रनीतिक उद्यम और सृष्टि सामयिक भावसे वन्द हो गयी। हमलोगोंके एक

पीढ़ी पहले पाश्चात्य आदर्श और अनुष्ठान दासता-सुलभ निष्ठाके साथ अनुकरण और ग्रहण करनेका जो निर्जीव प्रयास देखा गया था, उससे भारतवासियोंकी राष्ट्रनीतिक बुद्धि और प्रतिभाका कोई भी सत्य परिचय नहीं पाया जाता। किन्तु फिर अनेक भ्रान्तियोंके कुहासेमें—या कुहरेमें—एक नवीन सन्ध्याका प्रकाश दिखलायी पड़ रहा है, प्रदोषकी सन्ध्या नहीं प्रभातकी ही युग सन्ध्या। युगयुगान्तका भारत मरा नहीं है, उसकी सृष्टिकी शेष कथा भी अभी नहीं कही गयी है ; वह जीवित है, अपने लिए, समूची मानव-जातिके लिए अभी भी उसे कुछ करना बाकी है। और इस समय जो जाग्रत होना चाहता है, वह अंग्रेजी भावापन्न (Anglicised) प्राच्य जाति नहीं है, पाश्चात्यका अनुगत शिष्य होना एवं पाश्चात्य सभ्यताके फलाफलका फिर अभिनय करना ही उसकी नियति नहीं है, बल्कि वह इस समय भी उस प्राचीन स्मरणातीत कालकी ही शक्तिसे फिर अपने गम्भीरतर आत्माका सन्धान पा रहा है, सारी ज्योति और शक्तिके परम उत्पत्ति-स्थानकी ओर उसने अपना सिर और भी ऊँचा कर लिया है, और वह अपने धर्मका पूरा-पूरा अर्थ और विशाल रूप आविष्कार करनेमें प्रवृत्त हो रहा है।

॥ इति ॥